सुपारस बाबू

को

सप्रेम

१

सुबह ६-५२ मिनट पर 'पंजाब मेल' ने 'विक्टोरिया-टर्मिनस' का प्लेट-फार्म चूमा।

"फर्स्ट क्लास" के निकटवर्ती 'सर्वेन्ट' से रामू ने उतरते ही खिड़की खोली और अक्षय से पूछा—"क्यों, बाबू जागा ?"

"नहीं तो, आकर तुम जगाओ और मैं सामान उतरवाता हूँ," कहते हुए अक्षय 'प्लेट फार्म' पर उतरकर कुली को पुकारने लगा।

डब्बे की बर्थ पर सोये अपने साहब को जगाते हुए रामू ने पुकारा—"साहब""बम्बई।" किन्तु इस आवाज़ का कहीं कोई प्रभाव वहाँ नहीं दिखाई दिया। यों उस 'कम्पार्टमेंट' में केवल एक वही यात्री था जो उस गहराई में डूबा पड़ा था।

बोतल और कट-ग्लास के सुनहले प्यालों को बेंत की अटैची में सम्भाल कर रखता हुआ रामू पुनः पुकार उठा—"साहब, बम्बई आ गया....," और वह वहाँ बिखरे अन्य सामान को ठीक करने व बांधने में लग गया।

ट्रेन को 'प्लेटफार्म' पर लगे अब तक लगभग बीस मिनट हो चुके थे। उस डब्बे का सारा सामान उतरने के साथ ही प्लेटफार्म भी प्रायः रिक्त हो रहा था किन्तु उस 'फर्स्ट-क्लास' में चित लेटे मुसाफिर ने यह सोचकर गहरी नींद ले रक्खी थी कि बम्बई आकर तो उसने अपनी

यात्रा का प्रारम्भ ही किया है। अभी तो....। हां, "ल....ता, ल....आ," की ध्वनि रामू के कानों में एक दो बार गूंज गई।

"साहब,....बम्बई, अब उठिये," की तीसरी पुकार ने 'कम्पार्टमेंट' के वातावरण को अब बदला।

शीघ्रता में अपनी गर्दन किंचित उठाते हुए, यह जानकर कि "विक्टोरिया-टर्मिनस" पर गाड़ी आ लगी है और रामू बड़बड़ा रहा है कि देर से वह पुकार रहा है, निद्रा—निमीलित सज्जन झपटकर उठ बैठे और पल भर में 'नाइट-सूट' उतारकर, पहले से ही पास के हेंगर पर टंगे सफेद पेन्ट व बुशर्ट को पहनते हुए उन्होंने प्रश्न किया— "सा....मान ?"

"हां, उतर गया," रामू ने उनकी ओर बढ़ते हुये उत्तर दिया।

नीलम के रंगीन 'ग्लासों' व सुनहली-फ्रेम का चश्मा चढ़ाते हुए, लड़खड़ाता-सा दिनेश, कम्पार्टमेंट से उतरते-उतरते, अक्षय को 'प्लेटफार्म' पर पहले से ही टहलते देखकर चिल्ला उठा—"हल्लो ! अक्षय,.... नाउ....यू, आर रिसीविंग मी....एट दी....विक्टोरिया-टर्मिनस, ओ.... थैंक यू, थैंक यू।"

उँगलियां उठा-उठाकर कहते और बारम्बार लड़खड़ाते हुये दिनेश को देखकर अक्षय ने पहले तो अपने चारों ओर एक दृष्टि फेंकी और तब आगे बढ़कर उसे संभाला।

"आओ," कहते हुए सहारा देकर उसने दिनेश को 'प्लेटफार्म' का अनुभव कराया।

अधिक सामान व सामान वालों के हाव-भाव को देखकर कुली भी समझ व सोच रहे थे कि उन्हें आज दिन भर के पैसे एक ही बार में मिल जावेंगे। और मिलने भी चाहिए थे। रंगीनियों में डूबे इन्सान की इन्सानियत 'पैसा'—वास्तव में उसके नहीं दूसरों के काम का है।

दिनेश अपने सेक्रेटरी अक्षय बन्धु व नौकर रामू को लेकर आगे बढ़ा। उनके पीछे अपने सिरों पर सामान लादे कई कुली साथ चल

रहे थे। खाली से प्लेटफार्म पर यह जलूस अपना अलग रंग दिखा रहा था।

प्लेटफार्म से बाहर आने पर दिनेश ने अनायास ज़ोर से आवाज़ दी—"अक्षय, टैक्सी....।"

इस तेज़ पुकार ने अक्षय का ध्यान भंग किया। यों तो, अक्षय दिनेश को सहारा दिये चल रहा था किन्तु उसका अपना सहारा भी उनके आगे जाती हुई एक युवती बनी हुई थी। अपने मित्र के सहयोगी के रूप में अक्षय की दृष्टि सदैव ही कुछ खोजने, कुछ परखने में लगी रहती थी।

स्त्री की छाया दूर नहीं पास ही हो, तब पुरुष जी भर देखे नहीं, ऐसा क्यों ?

इसी उधेड़बुन में पुकार सुनकर अक्षय अस्थिर-सा आगे बढ़ा और कुछ मिनटों में ही टैक्सी लाकर दिनेश के सामने खड़ी कर दी। सब लोग उसमें बैठकर चल दिये।

दिनेश पहली बार बम्बई आया था, ऐसी बात नहीं थी। किन्तु इस बार आने में कुछ विशेषतायें उसके साथ थीं। ठाट-बाट में उसे 'हिज-हाइनेस' प्रदर्शित करना था और साज-सामान में एक करोड़पति सेठ। फलतः आवश्यकता से अधिक सामान उसके साथ था। और इस सबको लादे टैक्सी तेजी से आगे भाग रही थी। सीट पर रह-रहकर वह ठीक से बैठने की चेष्टा करता किन्तु रंगीन पानी में तरंगित उसका मस्तिष्क इस क्षण भी डूबता ही चला जा रहा था।

टैक्सी के 'होटल-ग्रीन' के राज-प्रासाद से भव्य-भवन के नीचे रुकते ही दिनेश चौंका और वह कार में सतर्क होकर बैठ गया।

दिनेश के आदेश पर ड्राइवर ने टैक्सी भव्यद्वार के सामने से हटाकर किनारे की ओर ला खड़ी की।

अक्षय कार से उतरा और कमरा ठीक करने के उद्देश्य से आगे

बढ़ने लगा। जाते-जाते वह बोला—"अच्छा मैं कमरा ठीक कर आऊं। हाँ, वह नम्बर.........।"

"अट्ठाइस.........सेकंड फ्लोर। देखो 'फर्स्ट' या 'थर्ड-फ्लोर' का 'डबल-बेड-रूम' ठीक करके आना। ऐ............अ, मैं यहीं बैठा हूँ। देखो,.........जल्दी आना", दिनेश ने अक्षय से कहा और धम्म-से सीट की पीठ पर उढ़ककर उसने अपनी पलकें मूंद लीं।

अति शीघ्र अक्षय ने लौटकर सूचना दी कि वह तीसरी मंजिल पर कोने का कमरा ठीक कर आया है।

"और वहाँ.........?", प्रयत्न करके सीधे बैठते हुए दिनेश ने प्रश्न किया।

"पूरी चहल-पहल है............।"

"तुम्हें........, तुम्हें किसी ने देखा तो नहीं.... ।"

"ये डर और हिम्मत—और चले हैं रोमान्स.........।"

अपने ओठों पर एक उंगली टिकाते हुए दिनेश ने अक्षय को चुप करने का संकेत किया और वह कार से उतर पड़ा। कार को विदाकर वे दबे पांव आगे बढ़े। रामू सामान ऊपर पहुंचवाने लगा।

मुख्य-द्वार के सामने ही किनारे की ओर 'लिफ्ट' था।

"थर्ड-फ्लोर"; कहकर ये 'लिफ्ट' पर चढ़ गये।

लिफ्ट ऊपर रुकते ही दिनेश व अक्षय उससे बाहर आये, तभी सामने से 'लिफ्ट-ब्वाय' ने सलाम ठोकी।

"अक्षय, एक रुपया.........", कहकर दिनेश एक थिरकन के साथ आगे बढ़ गया।

बकिंघम—पैलेस अथवा महाराज सिंधिया के राजमहल सरीखे ये भव्य-विश्राम-गृह न जाने किस अतीत का इतिहास, किस वर्तमान की गति व किस भविष्य की चिन्ता को अपने में छिपाये—नित्य ही नवीन पृष्ठांकन करने में संलग्न रहते हैं। इच्छाओं की पूर्ति एवं वासना की तृप्ति में, तरलता और सरलता का सागर लिये; भयानकता का भी

कभी अलक्षित चित्र प्रकट करने को आतुर बने रहकर अपनी व्यवस्थाओं और विवशताओं में उलझे मानव की समस्याओं को········ सुख, शान्ति, दु:ख, विद्रोह, क्षोभ, क्लेश, दम्भ, अनाचार, वैभव, विलास········ये अपने में सदैव सजग रखते हैं। ये ऊंची अट्टालिकायें अथवा इनका कोई दवा छिपा कोना कभी किसी प्रेमी-जीवन के पूजा-गृह भी बन जाते हैं—प्रणय–की केन्द्र-स्थली बने रहते हैं तो कभी श्मशान सदृश भयावह स्थान भी।

और बम्बई ऐसे विश्व-विख्यात नगर में—हिज़ हाइनेस ताज तथा उसके अन्य युवराज सहयोगी जहां एक ओर आनन्द-उपभोग की रम्य—क्रीड़ा-स्थली बने हुए हैं वहां दूसरी ओर इनमें विश्व की सम-विषम परिस्थितियों का निर्माण व संहार भी होता है। उस विशाल नगरी में—प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र में—कभी इन्हीं कमरों में रेस-कोर्स का प्रत्यक्ष अनुभव होता है तो कभी वासना की रंगीनियों में मानव तप्त अंगारे-सा तिक्त बना रहता है। और इसी सब में ये चटखती-दीवारें मानव को अपने में ऐसा जकड़ती हैं कि वह न उस मोह को छोड़ता है न उस भूत भविष्य व वर्तमान को; जिसके आधार पर वह वहां तक जा पहुँचा है।

तब चौपाटी की हहरती लहरों से भी उद्दाम घहरन में, उभर कर, व्यक्ति जीवन के मधु-तिक्त सत्य को पहचान कर भी—नैतिक विनाश की नींव पर प्लास्टर करता रहकर भी—मगन बना रहता है।

इसी प्रकार के विशाल 'होटेल ग्रीन' में हमारे हिज-हाइनेस रूपधारी मि० दिनेश, अपने प्राइवेट-सेक्रेटरी मि० अक्षय व सेवक रामू के साथ 'कॉफ लेदर' के एक से अधिक सूटकेस, किडबैग, ५-७ अटैचियां, टिफन-केरियर, पोर्टेबिल रेडियो, थर्मस, वेनाकुलर, केमरा, बेंत की 'बास्केट्स' और न मालूम क्या-क्या लिये उस तीसरी मंजिल के सुसज्जित कमरे में पधारे।

बीसवीं शताब्दी का युवक दिनेश—सांवली किन्तु मनहर मुखाकृति लिये; नशीली रसीली चितवन घुमाते; लम्बे छरहरे वदन के सलोने तेवर में दबा-उभरा, चौबीस घंटों में अट्ठारह घंटे आँखों में रंगीन चश्मा चढ़ाये; हर समय नौ सौ निन्यानवे का डिब्बा बायें हाथ में तथा दाहिने हाथ में सदैव एक सिगरेट लिये; पल-पल में सिगरेट का कश खींचते रहकर जब जिधर गर्दन घुमाता लगता मस्ती और रूप जैसे उससे लिपटकर कृत-कृत्य होना चाहते हों। लिपटने, चिपटने की आदत में वह भी पल भर में सामने बैठने············के गले में दोनों हाथ डालकर ऐसी चतुराई से निकल भागता कि फिसलन के क्षोभ या प्रायश्चित में, कोई भी, बस तड़पकर रह जाता। और तब अगला कदम, कहीं और होता। घर फूंक तमाशा देखना जैसे उसके जीवन का पूर्व-निश्चित लक्ष्य हो; इस पर औरों के माल को भी सहानुभूति पूर्ण दृष्टि से देख लेने में उसे कोई आपत्ति नहीं होती। पूर्वजों की लाखों की सम्पत्ति को रात-दिन के पहिये में घुमा फिराकर सड़कों की मौज और पलक मारते-मारते भले घरों में डोरे डालकर उनमें पूरा और खरा उतरना बस उस मधु-भाषी दिनेश की अपनी विशेषतायें थीं।

विलासिता में चूर, ऐश्वर्य में ओत-प्रोत दिनेश आधुनिक अच्छाइयों के आडम्बर में दबे समाज की खाइयों की कगारों पर खड़ा होकर रूप ही रूप····रस ही रस खोजता फिरता। वह वैभव-विलास और 'रोमान्स' के सतरंगी चित्रों को चूमना और अपनी सुसज्जित वेशभूषा में, पतली-सी कमर लिये, लोल-यौवन की परागमय-मधुरिमा के प्रेरक···· अनगिन, छलकते जाम पीता····छलकाता और मस्त झूमता। तभी आज भी वह 'होटेल ग्रीन' के लचकते सोफे की ओर बढ़ आया। छरहरा लोचदार वदन, चढ़ती जवानी और रंगीन दुनियाँ के रसमय अनुभव समेटे, अपने नेत्रों, मन मस्तिष्क को—चमकते प्यालों की रंगीन अंगूरी के कषैले शरबत में ढालता, दिल्ली से 'विक्टोरिया टर्मिनस' तक और फिर सहमा-सा किन्तु प्रतीक्षा और आगामी कार्यक्रम की उधेड़बुन में

अपने को उलझाये 'होटेल-ग्रीन' के कमरे में पड़े ईरानी क़ालीन पर से होता हुआ, वह धम्म से सोफे पर आ पड़ा।

ओठ सूख रहे थे। रात की खुमारी से गला चटख़ रहा था। इस पर दिल्ली से बम्बई तक के सफर की थकान, दिनेश चीख़ उठा—"पानी।"

थर्मस से रामू ने कांच का गिलास भरा और आगे बढ़ा दिया।

तमक कर दिनेश ने गिलास दूर फेंक दिया और खन्‌न्‌""खन्‌ की आवाज़ के साथ वह पुकार उठा—"व्हि""स्की""।"

× × ×

दिनेश के इस रूप की चमकती केंचुल पर प्यार से हाथ फेरने को अनेक मदमाती तितलियाँ, नव-नव-उमंगों से भरे उभार को अपने तईं नहीं उसके तईं उभारतीं और तब यौवन की तोड़-मरोड़ में उससे हठात् उलझतीं। वह उन्हें बरबस उलझाता""पर, पर केंचुल में विषाक्त-दंशों की भी छाया विद्यमान है; इसका भान, उन्हें बहुत देर में—पृथक रूप में—तब होता जब वे औरों की ही भांति, गिनती में आगे बढ़कर, एक ही कतार में खड़ी हो जातीं।

नित-नूतन-राग, नित-नूतन-तन की नवीन मलयज-गन्ध पीने का उसे शौक जो था।

समाज, वह मूर्खों का, अपाहिजों का, अनाश्रितों का जो ठहरा। वह साहसिक है जहां उसके साहस की किंचित भी आवश्यकता नहीं होती। किन्तु कहीं वह मूक अबला-सा असहाय है।

× × ×

दोपहर हो चुकी थी। होटल का 'काल ब्‌्वॉय' अनेक बार आया और लौट गया।

अक्षय तो दिनेश का आदी था। वह व रामू दोनों ही अपने-अपने धन्धों में लग गये। रामू सामान व्यवस्थित करने में जुटा रहा और

अक्षय कभी गुसलखाने में घुसा तो कभी बाहर बालकनी से झाँककर, सामने डोलते चेहरों को निहारता रहा।

मि० अक्षय भी अपना जोड़ नहीं रखते। चाँदी की चम्मच मुँह में डालकर तो परमात्मा ने इन्हें नहीं पैदा किया किन्तु जब से संसार और अपने आपको इन्होंने जान पाया था, साथ कुछ ऐसों से ही निभता रहा कि बड़े-बड़े लखपति पानी भरते रहे—उनकी वेश-भूषा, वार्तालाप, रंगीन-तबियत, अनुभवों और तरकीब-तरकीबों के सामने। चाहें उनका दोस्त पचास कस चुका हो अथवा अट्ठारह से पच्चीस तक की उभरती आयु में, गरदन उठाये, संसार को उचक-उचक कर देखने को लपक रहा हो—उनके समक्ष सब समान थे। जेब से भरे-भरे, रंगीनियों में चढ़ते नवजवानों से मिनटों में उनका परिचय होता; सेकेण्डों में उन्हें दुनियाँ दीखनी शुरू हो जाती और पलक मारते उसकी कलाबाजी से पंछी फँसते और उड़ते भी। इन्हीं अनेक सद्गुणों के तमगे लगे होने के कारण इधर अक्षय दिनेश के अभिन्नतम मित्र थे और अनुभवों के गहरे दोस्त।

अब तक के इतिहास में मि० अक्षय ने दिल्ली नगर में अच्छा नाम कमाया था। सात महीने में ही उनके सहयोग से आनन्दमोहन ने सात लाख की सम्पत्ति व दो कारें मेरठ की रेसों, चावड़ी की गलियों और न्यू-देहली के क्लबों में, बिना कष्ट के, बराबर की थीं।

नलिन के पिता अभी जीवित थे; किन्तु मि० अक्षय ने उसे सलाह दी कि ढलती उम्र में हरिद्वार का वायु सेवन पिता जी को बड़ा लाभकारी होगा। बात ठीक हो गई और नलिन इतना सरंजाम बाँधने के लिये छत्तीस हजार की एक कोठी हरिद्वार में खरीद आया! दो-तीन महीने में भूमिका बनाकर उसने अपने पिता सेठ विन्देश्वरी-प्रसाद को हरिद्वार पहुँचा दिया। यों सुख-शान्ति पाकर उसने अक्षय के साथ—धीरे-धीरे चाँदनी चौक की दूकान, सदर की दो कोठियाँ, बाराखंभे के पीछे का एक बंगला, ४॥ लाख के विभिन्न शेयर देखते-

देखते किनारे लगा दिये और तब आराम से अब वह पहुँचा हरिद्वार; इस चिन्ता में कि हरिद्वार की कोठी उसी ने तो अपने हाथों खरीदी थी, आवश्यकता आने पर उसे निकाल देना क्या बुरी बात है ? पिता जी कोठी में बने ही रहे और उसके स्वामी अब एक सरदारजी थे जो अपने साफे और कपड़ों में १२॥ लाख के नोट रावलपिंडी से भागते समय बांध लाये थे। अक्षय वहां भी साथ था।

और आज के इस आधुनिकता की खोल चढ़ाने वाले समाज में, विशेषतः अभिजात—वर्गीय—युवक—समुदाय में, आधुनिकता के वेष्टन में लिपटकर जो अनैतिक व्यापार, जो रसमय अनुराग, जो भोग-विलास अपनी चरम-सीमा पर प्रकट-अप्रकट रूप से चलते चले जा रहे हैं—उनमें अक्षय के-से परम-बन्धुओं की विशेष आवश्यकता रहती है। नवीन खोजों और तदनन्तर के सहयोग पूर्ण वातावरण में गाड़ी ऐसों के विना आगे नहीं बढ़ती और तब वह बढ़ती रहती है, तब तक जब तक मुफलिसी का 'हाल्ट' या 'जंकशन' नहीं आ जाता।

इसी तरह वीरेन्द्र, बैरिस्टर घोष का इकलौता लड़का था। थर्ड-ईयर में पहुंचते-पहुंचते उसे 'एम्बेसेडर' में शाम बिताने का शौक नित्य ही उकसाता। अपने साथी राजे के साथ अपनी रेसिंग-कार लेकर वह नित्य सायंकाल, फीरोज़शाह रोड पर स्थित अपने बंगले से निकलता, न्यू-देहली का एक राउंड लगाता, फुटपाथ पर चलने वाली अकेली-दुकेली तितलियों से, दूर से ही 'टा-टा' करता और तब 'एम्बेसेडर' में आ बैठता।

'रेस्ट्रां' में यों नित्य उठने बैठने वालों से कुछ काल में परिचय हो जाना स्वाभाविक होता। तभी सौभाग्यवश उसकी निकटता मि० अक्षय से हो गई। आरम्भ में एक-दो दिन तो ऊपरी 'नमस्ते' और 'शेक-हेंड' चला तदनन्तर एक ही सप्ताह में दो अपरिचित निकटतम मित्र बन गये।

राजे दूर हो गया—क्यों ? यही कि ऐसे में ऐसों का सम्पर्क अवांछनीय जो ठहरा। यही नहीं, स्थायी मित्र यों स्वयं दूर होते चले जाते हैं। मैत्री आज व्यक्ति की नहीं सहयोग की ही टिक पाती है।

तो, एक दिन संध्या समय मि० अक्षय के साथ एक नवयुवती को देखकर वीरेन्द्र संकोचपूर्वक दूसरी मेज पर जा बैठा। परन्तु अक्षय ने उसे ज्यों ही देखा वह उठा और तपाक् से वीरेन्द्र को अपनी ही मेज़ पर ले आया क्यों कि इस एक सप्ताह में अक्षय ने वीरेन्द्र की स्थिति का कच्चा-पक्का चिट्ठा, परिश्रम करके उतार लिया था।

"आप हैं मि० वीरेन्द्र, नगर के प्रसिद्ध बैरिस्टर घोष के एक मात्र पुत्र और 'थर्ड-ईयर' के स्टूडेंट", वीरेन्द्र का परिचय देते हुये अक्षय ने कहा।

रूप और यौवन की नव-विकसित कलिका समक्ष बैठी मुस्करा रही थी, इठला रही थी; किन्तु वीरेन्द्र जैसे सहम रहा था, डर रहा था। कार को ड्राइव करते समय केवल 'टा-टा' या कालेज में किसी के पास से निकल जाने पर पास खड़े किसी मित्र को ढ़केल देने के अतिरिक्त अभी तक उसने किया ही क्या था ? इससे आगे के अनुभव के लिये वह, आवश्यकता से अधिक, आवेश में—लालायित अवश्य था किन्तु पहले पहल यों सामने आकर कांप जाना, ऐसा बहुतों से हो जाता है।

वीरेन्द्र ने एक उचटती-सी दृष्टि सामने के उस मांसल-उभार पर फेंकी और कॉफी के प्याले भरने लगा तभी अक्षय की योजना के आरम्भिक कार्य प्रारम्भ हो गये।

"और हां, मि० वीरेन्द्र, आप हैं मिस नलिनी, सेठ रामकिशोर की एकलौती बेटी। पिताजी ने अशोक रोड पर अकेले इनके रहने के लिये ही एक कोठी दे रक्खी है। क्यों नलिनी ?," मुसकराते हुये अक्षय ने नलिनी का 'इन्ट्रोडक्शन' कराया।

उस शाम के बाद, शीघ्र, एक मास में ही वीरेन्द्र की कार 'एम्बेसेडर' न जाकर अशोक रोड पर घूमने लगी। रेसिंग-कार की

दो सीटों पर प्रारम्भ में तो एक सीट अक्षय की रहती थी किन्तु अति शीघ्र अब हर बार उछलकर, फुदककर नलिनी उस पर आकर बैठने लगी।

'टिप-टाप' रहने से कहीं अधिक खर्च, प्रतिमास नहीं प्रतिदिन अक्षय नलिनी से झटक लाता। वह कमीशन नहीं था, न। वह तो परोपकार का प्रसाद था जो उसे नलिनी और वीरेन्द्र दोनों से समान रूप में प्राप्त होता था। होना भी चाहिये, उस बेचारे के कौन से 'फार्म' चल रहे थे ?

और सुख-दुःख दोनों ही में 'परमात्मा' कभी-कभी सहयोग दे डालता है, न। बैरिस्टर साहब की मृत्यु....वह आई और अगले ही मास नई 'शेवरलेट' नलिनी के 'पोर्टिको' में गनगनाने लगी। शनैः-शनैः इन श्रीमान्‌जी का बैंक बैलेंस लाखों से घटकर हज़ारों और तब सैंकड़ों पर इस हेतु पहुँच गया कि अक्षय महोदय के पूर्ण सहयोग से उन्हें नित-नूतन नलिनियों के सहवास और साहचर्य का परमानन्द प्राप्त होने लगा।

वीरेन्द्र और नलिनी की 'एम्बेसेडर' की जान-पहचान के कुछ ही मास बाद उसी प्रकार 'एम्बेसेडर' में बैठे एक शाम को राजे ने वीरेन्द्र को सूचना दी कि उसने सुना है कि मिस नलिनी कल से ग़ायब हैं।

"मैं जान चुका हूँ", वीरेन्द्र ने कष्ट के स्वरों में कह डाला।

"किन्तु इन अनेक महीनों में बैरिस्टर साहब के साहबजादे यह क्यों न जान पाये कि मिस नलिनी सेठ रामकिशोर की ही एक मात्र, एकलौती बेटी नहीं हैं अपितु वे ऐसे कितने ही सेठों की बैठकें आबाद कर चुकी हैं और हैं नई-चावड़ी की मशहूर जेबुन्निसा की एकलौती लाड़ली....।"

"राजे, क्या चुप नहीं रहोगे ?"

"भई, मैं तो चुप हूँ परन्तु कार के पास जो 'गुडले' का आदमी खड़ा चिल्ला रहा है।"

और वीरेन्द्र की आकृति का रंग कोहरे की शाम-सा कुम्हला गया।

बाहर आवाज़ आ रही थी—"बाबू, सत्तरह हज़ार का बिल है। परसों ही बाबू साहब एक सैट खरीद लाये थे अपनी माशूका के लिये और चैक दे आये थे। वह अभी-अभी बैंक से लौटकर आया है। यह कार बाहर खड़ी है और आप अन्दर बैठे हैं। कहा तो कहते हैं—'चलो आता हूं।' खैर, अभी प्रबन्ध हुआ जाता है", आस-पास खड़े दस बीस व्यक्तियों से 'गुडले' ज्वैलर्स का सेल्समैन खड़ा कह रहा था।

वहीं निकट राजे खड़ा था। वह समझ गया और आगे बढ़कर बोला—"इस तरह यहां तुमसे क्या बनेगा? मामला सत्तरह हज़ार का है। जाकर अपने मैनेजर को जल्दी से बुला लाओ। यहां ये जनाब मिल भी गये हैं, फिर कहां दीखेंगे?"

राजे का रंग काम कर गया। अन्दर आकर राजे ने इसकी सूचना वीरेन्द्र को दी।

'गुडले' का मैनेजर व सेल्समैन जब तक आये, वीरेन्द्र की कार जगह छोड़ चुकी थी।

अब न अक्षय को वीरेन्द्र से मिलने की आवश्यकता थी न ही उसे उसकी प्रतीक्षा। हां, अब वह नलिनी के लिये तड़प रहा था और पुलिस उसके लिये।

और ऐसी-सी कलाबाजियां, मि० अक्षय को लेकर दिल्ली के रसज्ञ-समाज में प्रसिद्ध थीं। न पुराने दोस्त तिलमिलाकर उसका कुछ बिगाड़ पाते न नयों को मिलने में ही कोई हिचक होती। हां, ऐसी कहानियां बीरबल के किस्सों की भांति हर ओर मज़े में सुनी सुनाई जाती थीं।

मि० अक्षय इतने ऊंचे स्तर के व्यक्ति थे कि उनकी मित्रता किसी से साल-छै महीने से अधिक नहीं निभ पाती थी। हां, इधर दिनेश से उनका साथ हुए, न जाने कैसे, कई वर्ष हो गये थे। अब तक जितने भी शिकार अक्षय को मिले थे उनमें से दिनेश का नम्बर इक्कीस था। धन

की समानता-असमानता का प्रश्न जाने दीजिये, दिनेश स्वयं ही इतना दिलेर था कि कभी-कभी अक्षय उससे पनाह मांग लेता था।

रूप के नये ेर जो अक्षय, दिनेश के सामने लगाता था; दिनेश उसमें से अपने मतलब के छांटकर, 'और' अपने से आगे अथवा अपने से ऊंची और बड़ी समाज में सरका देता था।

× × × ×

अक्षय ने चूड़ीदार पाजामे पर रेशमी कुरता व जाकट चढ़ाते हुये पुकारा—"उठो जी, कुछ दाना-पानी होगा या यों ही फ़ाके-मस्ती में भूलेश्वर की घुमाइयाँ होंगी।"

तब आगे बढ़कर उसने दिनेश को हिलाना प्रारम्भ किया।

अंगारे-सी लाल आँखें खोलता दिनेश उठा और सोफे पर तुरन्त सीधा होकर बैठ गया। एक तीव्र-दृष्टि अक्षय पर फेंककर उसने तुरन्त उसके गले में बाहें डाल दीं।

"अक्षय, उठें..........।"

"अरे भई हाँ, हाँ, फौरन।"

"ह्विस्की...............।"

"अच्छा जी, नो ह्विस्की, गेट-अप।"

२

"ई···ई····ई", की चीख़ के साथ दोनों एक-दूसरे से चिपट गईं और हाँफ कर सीधे होते हुये जब वे एक-दूसरे से पृथक हुईं तो, एक, आवेश में कह गई—

"ऐ जनाब आप क्या अन्धे हैं। दिखाई नहीं देता कि साढ़े पाँच-पाँच फीट की दो लड़कियाँ आपकी खोपड़ी पर सैंडलें उड़ाने को सामने खड़ी हैं।" और दूसरी मौनस्थ हो तिरस्कार-भाव से दूसरी ओर देखते हुये बढ़ गई।

"माफ कीजियेगा, माफ कीजियेगा, ग़लती हो गई। ये ब्रेक रुका नहीं, क्लच दबा नहीं और हैंडल थमा नहीं, और····बस, आप बेकार बिगड़ गईं", कार को निकट ही रोककर दिनेश उतरा और उस लड़की के पास आकर अपनी सफाई देने लगा।

"और अगर हमारे भी····।"

"तो खालेंगे····", कार से एक और महाशय उतरकर दिनेश के निकट आते आते कह गये।

"बेहूदे कहीं के····", कहते हुये लड़की आगे बढ़ गई।

कार लेकर घूमते हुये ये युवक मुस्कराकर रह गये और सोचने लगे कि अब किधर बढ़ें। कार लेकर चलाईं या यों ही पास की दुकान में जाकर पुनः छेड़छाड़ शुरू करें क्योंकि इन बड़े-बड़े और चहल-पहल

अपरिचितों को सहज ही अपना भक्त व प्रिय बना लेती। सौहार्द-पूर्ण व्यवहार से बड़ों व छोटों सभी को उनसे समान संतोष व एकरसता प्राप्त होती। सार्वजनिक कार्यों में संलग्नता व आकर्षण की गतिविधि में बिना अवरोध के वे निरन्तर अग्रसर बनी रहीं और उनमें वे सभी मोहक गुण विद्यमान थे जिनके द्वारा समानता की दौड़ में सचेत और विचारशील रमणियों को सार्वजनिक जीवन में सफलता प्राप्त हो सके। अतः वे नगर की अनेक सार्वजनिक संस्थाओं की सदस्या थीं।

आचार-व्यवहार व रहन-सहन में सम्पूर्ण परिवार एक प्रकार से आधुनिक कह दिया जावे तो अत्युक्ति न होगी। लिटन रोड पर राज-प्रासाद के-से एक भव्य बंगले में वे रहा करते थे। आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति से सज्जित वह बंगला अपने में एक सुखी परिवार, एक सुखी दम्पत्ति व एक वैभव-सम्पन्न नागरिक को समेटे समयानुसार आनन्द उपभोग कर रहा था।

शान्तिस्वरूप की षोड़सी पुत्री लता अपने अप्रतिभ रूप-सौन्दर्य के साथ-साथ बड़ी भली-भोली, बड़ी सलोनी, बड़ी मुखरित, बड़ी सरल, बड़ी सुशील व बड़ी भावुक लड़की थी।

अपने रूप के ओज की जिस प्रचुरता में वह तैर रही थी तथा गात के गौरवर्ण में छिटकी सौम्यता में जैसा प्रस्फुटन उसमें प्रत्यक्ष था उसके अनुरूप अल्हड़ता व उच्छृंखलता के स्वाभाविक अतिरेक के विपरीत उसके व्यवहारों में गम्भीरता, वार्तालाप में सीमायें एवं विचारों में वैसा ही संतुलन भी था।

लता सदैव अपने में सीमित रहा करती। साथ की अन्यान्य फुदकती कुमारियों की भाँति वह वैसी उड़ती हुई, वैसी तेज, कनखियों से राह-चलते छेड़ने वाली, हाव-भाव से व्यर्थ ही आकाश में परिन्दे उड़ाने वाली, उछल-कूद में पड़ोस के उठते कुमार को 'साइनाइट' का स्वाद कराने

वाली, चाय की ट्रे लाकर मेहमान के हाथ में चाय के प्याले के स्थान पर अपनी गदेलियां रख देने वाली नहीं थी।

अपने प्राकृतिक रूप की आभा में उसने न कभी नेत्रों की कोरों में कान को छूता सुरमई काजल लपेटा, न अपने गुलाबी ओठों पर कभी दिल के शीशे-सी बन्द लाली को फेरा, न............। वह लावण्य था, वह स्निग्धता थी, वह झूमते बादलों-सी गात की गुदगुदी शुभ्रता थी, वह दुग्ध-धवल चांदनी-सी श्वेत मुखाकृति थी, जिसमें दुधमुंहे बच्चे-सी मासूम और भोली और बड़ी आंखें, काली पुतलियों को डुलाया करती थीं। उनमें के रेशमी लाल डोरे, रतनारे या लाल, हवा की झोंक से कभी उड़ते नहीं थे। यौवन की मांसलता जितनी उभर आई थी तन और मन उतना ही दबा, वैसा ही सीमित था।

स्फुट वाक्यों में वार्तालाप समाप्त करके मौन हो लेना—यह स्वभाव केवल बाहर वालों के प्रति ही नहीं उसका अपने घर में भी था।

संगीत व साहित्य में पिता के अनुरूप मोह रखकर, अनेक स्वरों व वाद्यों का उसने ज्ञान प्राप्त किया। साहित्य के विविध-वादों में न डूब कर सरल भाव से वह दिन भर कुछ न कुछ पढ़ती ही रहती। किन्तु खुलकर स्कूल या कालेज में वह नहीं पढ़ी। शान्तिस्वरूप के-से खुले विचारों के व्यक्ति के यहां शिक्षा के प्रति उदासी कुछ आश्चर्य-सा व्यक्त करती। फिर भी उन्होंने लता को घर पर ही हिन्दी....अंग्रेजी का पर्याप्त ज्ञान कराने के लिए कई शिक्षक नियुक्त किये।

सुगन्धि से रूप की गन्ध के प्रसार का घेरा असीम-व-प्रभाव उससे उसकी कोई तुलना नहीं, उसकी कोई माप नहीं।

किन्तु रूप पर मंडराने वालों...., अनायास इठला-इतरा कर अपने को आरोपित करने वालों, छेड़-छाड़ में फांद पड़ने वालों...., का ही तो युग है, न। अतः न जाने कितने मसोस-मसोस कर, धक्-धक् पर कसकर हाथ दाबने वालों ने देखा और........

पर सीमा की मान्यताओं में बंधे रहकर लता के पलक भूमि की गहराई में ही खोजते रहे, वे कभी उठते ही न थे। जब भी वैसे से उग्र-प्रहारों की तीक्ष्णता प्रकट होती तब या तो वह जड़ता-सी उदासी से टकरा कर स्वतः विलीन हो जाती या रूप-शिला के सम्मुख आकर चूर-चूर हो जाती। अनेक ओर अन्तर्द्वन्द्व उठे, पनपे, उभरे पर थक कर चुप हो गये। कहीं कोई टिकाव आने का प्रश्न ही न उठा, लता ने कभी जाना भी नहीं।

किन्तु ……किन्तु 'आज', 'कल' नहीं और 'कल' वह निश्चित बदलेगा।

किन्तु 'आज' को सम्भाले रहने में लता पूर्ण सजग, पूर्ण सचेष्ट, पूर्णतः खुरदरी थी। 'कल' सरसता आवेगी, तो……तो देखा जायगा।

सौन्दर्य के आधिक्य में दबे-उभरे उसके तन पर जब जो वेश लिपटता वही सुहावना लगता और वही रूप को निखार कर आकर्षण को ललकारता।

किन्तु रूप या यौवन…वह डब्बी में, सन्दूक में, कमरे में…या कहीं बन्द कर देने की बात तो नहीं…वस्तु तो नहीं। हाँ, उसकी सम्भाल… वह उसका मालिक स्वयं करे, कर भी लेता है।

तो लता विभिन्न वेश-भूषा और शृङ्गार में दबी ढकी, दूसरे चौथे, केनाट-प्लेस की सन्ध्या में घूम-फिर आती। कभी उसकी साथिनें उसके साथ होतीं, तो कभी स्वरूपरानी या कभी शान्तिस्वरूप सहित सम्पूर्ण पारिवारिक सदस्य छोटे-बड़े बालक भी नई हवेलियों की भरी दूकानों के बाहर फुटपाथों पर फुदकते चलते और खिलौनों से, खिलौने लिये, उछलते।

और तभी अनेक दृष्टियों के बीच में, कतराती हुई लता, एक ओर से दूसरी ओर निकल जाती उसी प्रकार जिस प्रकार वह अपने वैयक्तिक जीवन में इन अनेक दृष्टियों से कतरा रही थी। उसकी उदासीनता ने साहस के दाँत तोड़ रक्खे थे। पुरुषोचित-अधिकार की धृष्टता, सिमट

कर अनेक मन रूपी कांटों में छिपी या दबी पड़ी थी। उभरने का अवसर आने के पूर्व ही प्रत्युत्तर का अंगार या शीतलता अनेक भावना-पूर्ण साधकों को शान्त किये थी।

लता अपने आप में, नन्हे-मुन्ने भाई बहनों में, मातृ-पितृ स्नेह में, सहज मोह में, पढ़ाई-लिखाई, संगीत और अपने सितार के तारों में उलझी रहकर 'स्व' में मगन थी।

किन्तु 'कल' वह आवेगा—यह तो निश्चित ही है, न।

और रूप''''और यौवन, वह कहीं टकरावेगा, न। यह तो निश्चित है, न। उससे कोई उलझेगा। यह तो निश्चित है, न। वैसे ही जैसे, सूरज का उगना। चाँद का प्रकाश होते-होते विलीन हो जाना'''' जागरण में लुप्त हो जाना।

रूप वह रिक्त कैसे और कब ?

यौवन वह सुप्त कैसे और कब ?

तभी भावी''''आह्वान के रिक्त प्याले को मधुशाला की सुरीली तानों ने सिक्त कर दिया। अनायास प्याला भर उठा''''छलक जाने को आतुर हो उठा।

फूल''''उसकी सुगन्धि फैली ही जो थी। उसकी कोमल पंखुरियों में''''वह एक कांटा गड़ कर ही जो रह गया। स्वरूप की सांवली मूर्ति और उसकी झूमती आभा मन में समाकर ही जो रह गई। उसने एक विलोड़न, एक आकर्षण, श्वासोच्छ्वास में एक तीव्रता जो ला दी।

मन-भावन, एक शिकारी आया और मधुशाला के तीखे बाणों को लेकर उसकी सुनहली-रुपहली नोकों से उसने विजड़ित-हृदय के भाव-प्रसूनों को कुरेदना आरम्भ किया।

वह नित्य आता। सुबह हो, शाम या रात छाई हो; वह आता और दिशायें इतराने लगतीं।

तब लान पर पड़ी कुर्सियों पर अन्य पारिवारिक सदस्यों के साथ बैठकर अनिन्द्य-सौन्दर्य की उस मूर्ति की मन-रूपी-वीणा के नव-यौवन

प्राप्त प्रत्येक तार, मधुशाला की इन पंक्तियों के साम्य में झनन्....झन् करके बज उठने को मचल पड़ते।

आज सजीव बना लो, प्रेयसि !
अपने अधरों का प्याला,
भरलो, भरलो, भरलो इसमें
यौवन मधुरस की हाला,
और लगा मेरे अधरों में
भूल हटा ना मत जाओ,
अथक बनूं मैं पीने वाला
खुले प्रणय की मधुशाला।

लान में छिटकी हरी दूब के नीचे दबी मिट्टी की मंद-सुवास और दूर बैठे गायक के कपड़ों से फूटकर आती 'कान्ति' सेन्ट की मनहर गन्ध ने केलि के प्रांगण के द्वारों को हिलाया....डुलाया; प्राकृतिक-हरियाली में चित्रित-वातावरण ने उस भावी कल्पना-प्रासाद को संवारा, सजाया; सुरीले कण्ठ से प्रस्फुटित लोल-संगीत की ध्वनियों से 'निखरी मधुशाला, से प्रत्येक मन....पर हां, सर्वाधिक उसका मन उमड़ उठा....पिपासाकुल हो उठा।

और फेनक से श्वेत-गात की मधुरिमा में अछूता तन व मन लिये लता विलोड़न में सिहर उठी।

उस अबोध-यौवन से खिलवाड़ का उससे उपयुक्त साधन, उस क्षण, अन्य अथवा अन्यत्र न था।

× × × ×

ये कवि, गीतकार, शिल्पी, लेखक....और क्रान्तिकारी, समाज-सेवक, विज्ञान-वेत्ता....देश-कल्याण के नेता....ये सब जो मित्र थे—शान्तिस्वरूप के ड्राइङ्ग-रूम में मैत्री-गोष्ठियों का आनन्द लेते। कुछ शान्तिस्वरूप के वैभव-विलास से टकराते; कुछ आवश्यकताओं की

गूंज में उनके धन से टकराते; कुछ संस्थाओं की दुहाई में उपदेश पिलाते; साधारण किन्तु स्पष्ट मन व स्वभाव रखने वाले, साधारण रूप में मिलते, सुख-दुःख की कहते, सुनते, ताश-पत्तों, सिनेमा या अनिर्दिष्ट घुमाइयों तक सीमित रहकर मैत्री-सुख प्राप्त करते-कराते। और इस सब में स्वभावतः शान्तिस्वरूप और उनका समस्त परिवार सुख पाता।

इसके आगे भी कुछ था। संगीत और कला प्रियता के साथ ही शान्तिस्वरूप संगीत के ग्राहक और कला के पारखी भी थे। दैविक और दैहिक कला-कृतियों की पूजा-अर्चना और उपासना में वे उदार-चेता व उदार-दाता भी थे।

और चरित्र की आस्था में पहले तो शान्तिस्वरूप ने अपनी दक्षता से वह अनदेखा सन्तोष भी वे जितना दे पाये दिया। अपने रूपभार से दबी स्वरूपरानी ने भी इस ओर उदासीनता प्रदर्शित की और वैभव-शालिनी नारी को सुख, तृप्ति और मान से अधिक सोच भी क्या ?

किन्तु वह अदृश्य अधिक काल तक न चला। चलता भी नहीं है ! गुण-दोष प्रकट न हों—कभी नहीं होंगे—यह भ्रामक-प्रवृत्ति है स्वाभाविक अवश्य, किन्तु वह वैसी ही अस्थायी और अनिश्चित भी है।

तब आवश्यकता से अधिक व्यय और बन्द-खुले-क्रिया-कलापों ने धीरे-धीरे बात स्पष्ट कर दी।

रुन-झुन की थिरकन का स्वाद लेकर और मीठे-कषैले शरबत से रंगी आंखों को रात्रि में रंगीन चश्मे से ढककर और सौंफ से गन्ध की आत्मा पीकर वे जब भी सामने आये—'आज' नहीं तो 'कल' वह खुल गया। दिल्ली और बाहर भी अनेक नगरों में रात्रि की चमकती अट्टालिकाएँ उनके द्वारा सुरभि-सिञ्चन कर चुकी हैं—धीरे-धीरे यह फैल गया।

इस सब रंगीन वातावरण को लेकर परिवार में एक विवाद आया भी किन्तु व्यक्तित्व के सम्मान में वह दबा-ढका चलता रहा।

ग्रौर नित-नई चीज को सामने लाने वाले—प्रोत्साहन के पुतले, मैत्री के शत्रु, धन के मांस-भक्षी, पैसे की दासता में वासना के व्यापारी, ग्रनेक कलाकार भी……"छान-छान" ग्रौर "वाह, क्या चीज है"—की गूंज में सक्रिय सहयोगी व परम-हितैषी बने रहे।

एक ग्रोर शान्तिस्वरूप तन-मन की सुधि खोकर नोटों के बण्डल गिनते चले गये ग्रौर दूसरी ग्रोर उन्हीं के परम-पालतू रसराज—जिन का कार्य नगर में बड़े लोगों की मित्र-मण्डली में चाटुकारिता करना, गुण-गान करना, मेल-मिलाप बढ़ाना ही रहता था—पहले तो ग्रपने प्रयोगों का प्रभाव उन्हीं पर प्रकाशित करते रहे ग्रौर तभी उन्हें उस चकाचौंध में दिखाई दे गया "वह दूधिया-बल्ब"—लता।

ग्रौर ये ही ले ग्राये एक दिन, उस रंगीले, कटीले युवक दिनेश को सेठ शान्तिस्वरूप की प्रीति-रीति का सुख लूटने के लिये, उनके ही हरित लान पर।

पहले ही दिन—"देखो दिनेश, यदि तुमने ग्राज शान्तिबाबू को वे लाइनें न सुनाईं तो……समझ लेना।"

"सुनावेंगे क्यों नहीं ?………हां, हां सुनाग्रो दिनेश……," शान्तिस्वरूप ने नये मेहमान के सत्कार में कह डाला।

ग्रौर पल भर में प्रभावोत्पादक-स्वर-लहरी से वातावरण गुंजरित हो उठा। वे संगीत व काव्य की ग्रमर ध्वनियां………

सुमुखि, तुम्हारा सुंदर मुख ही
माणिक, मदिरा का प्याला,
छलक रही है, जिसमें छल-छल
रूप, मधुर, मादक हाला,
मैं ही साक़ी बनता, मैं ही
पीने वाला बनता हूं,
जहां कहीं मिल बैठे हम-तुम
वहीं गई हो, मधुशाला।

वह पहली ही रात्रि थी। वेश-भूषा की सुन्दरता, चुनाव.....आकर्षक मुखाकृति पर थिरकती आँखें और बिखरती अलकें.........झूम-झूम कर कहने की गति, सब ने मिल कर वातावरण में एक गुंजन....एक नर्तन उत्पन्न कर दिया। श्रोताओं में एक चाह उत्पन्न कर दी। उनमें वह भी थी, सुकुमार, कौमार्य की पवित्रता के बोझ से लदी....तन भार से बोझिल.........लता।

उसने सुना अवश्य किन्तु बिना किसी प्रतिक्रिया के वह.........पूर्णतः मौन और गहन.........वहां से उठ बैठी। मन्द-पग-चाप टिकाते वह धीरे-से कमरे में चली गई।

तभी वहीं, दिनेश ने अपनी पहली दृष्टि लता पर फेरी।

तब से नित्य संगीत या कवि गोष्ठी नहीं....केवल मधुशाला-गोष्ठियां जमने लगीं। और धीरे-धीरे, लता का 'केनाट-प्लेस' गुम हो गया, वह स्वयं कहीं गुम हो गई।

दिनेश की कार नित्य बंगले के 'पोर्टिको' में आ लगती। दबे पांव वह चुपचाप आकर पूर्व से ही लान पर पड़ी कुर्सियों पर आ बैठता। उपासक उसे आ घेरते और तब जाना-पहचाना कार्यक्रम चल पड़ता।

तभी आँखें, आँखों को पढ़ना चाहतीं, मन, मन को तोलना चाहता। झुकाव अपने लक्ष्य पर केन्द्रित होने पर जो स्वाभाविक मोड़ लेना चाहता है; दूर-दूर, उससे प्रभावित मन स्वयं उसमें कुछ टटोलना प्रारम्भ कर देता है। यह 'दो' की डोर बन जाती है। तब दो दिशाएँ सिमटकर एक होने को आतुर हो उठती हैं। दो किनारे एक तट बन जाने को मचल उठते हैं। दो प्राणी अपना सब कुछ भुलाकर, छोड़ कर एक ओर चल पड़ते हैं—बिन जाने, बिन समझे—हो जो होना हो। वही होता भी है।

सुपात्र-कुपात्र, भला-बुरा, पाप...., सत्य-असत्य, दुष्ट...., यह सब सोचने, समझने, परखने का समय कब मिल पाता है ?

कभी अनिश्चित, निश्चित होकर ही रहता है। तब लगता है जो स्वयं से हो उठता है, वही स्वाभाविक है। लगता है जो प्रिय है वही अपेक्षित भी। तब तीव्रता में मन यही तो सोचता है न,—कि दूसरे जहाँ अटकाव मानेंगे वहाँ लगाम कसना ही चाहेंगे। वैसे उन्हें रोकता कौन है ? और हाँ, इन्हें भी रोकता कौन है ? रोका किसने ?

तब वे—वैसे बहुत से सुध-बुध खो बैठते हैं।

तभी लता को लगा—उस दिन कार वाली घटना, वह जो उद्दंडता या छेड़छाड़ दिनेश ने की थी—जाने भी दो। छोड़ो उसको। बीती बात है। आकर्षण में कुलबुलाहट स्वाभाविक ही तो है।

३

"लता—यह तुम्हारे यहां कैसे आने लगा ? यह तो वही शैतान है जो 'ओडियन' के पीछे वाली सड़क पर हम दोनों पर अपनी कार चढ़ाये दे रहा था.....," अमिता ने एक तीव्र दृष्टिपात दिनेश की ओर फेंकते हुए कहा। दिनेश उस क्षण अति गम्भीर मुद्रा में शान्तिस्वरूप के निकट बैठा "सरंगी बैंक" के आदान-प्रदान की कुछ बातें कर रहा था और शान्तिस्वरूप को अपनी जानी-पहचानी और मानी मूर्तियों के दर्शन करने के लिए सहर्ष आमन्त्रित कर रहा था।

"हां अमिता है तो यह वही.........पर, यहां, कुछ मैंने इसे थोड़े ही बुलाया है। पिताजी का परिचित है, उन्हीं के पास आता है.........।" अमिता के हाथों में हाथ डाल कर उसे लान की ओर ले जाते हुए लता ने कहा।

"हो सकता है—पर कहां तुम्हारे पिताजी कहां यह ? इसका उनका क्या साथ ?"

"तुम तो बाल की खाल निकालती हो........।"

"अच्छा लता, चलो छोड़ो........और कहो इन्दू आई........।"

"मैं ऐसी लड़कियों से बात करना पसन्द नहीं करती........।"

"क्यों, क्या हुआ ? चलो छोड़ो........कुछ हुआ होगा। पर हां, तुम ठीक से जानती होगी। मैं तो देहली ही बहुत दिनों बाद आई हूं। पर

हाँ, सुना है एक टी० बी० में मर गया, एक ने पिछले महीने ही 'प्वाइजन'........ग्रौर सुनते हैं ग्रब........वो खन्ना भी........।"

"तो........ऐसों के सम्पर्क को नमस्कार........। ग्रौर ग्राजकल तो लड़कियों के प्यार........।"

"फिर वही 'लड़कियों के प्यार'........ये लड़के कुछ कम पाजी होते हैं। इनकी कोई गिनती है........।"

"हाँ जी, इनकी गिनती नहीं है तो तुम्हारी क्यों हो ? एक से प्यार क्या ? जी ऊब भी तो जाता है। दो चार होने ही चाहियें," लता ने ग्रमिता की बाँह पर मोटी चुटकी काटते हुए कह डाला।

"लता........तुम मुझसे कुछ कहना चाहती हो। गलत, वह सब तुम्हारा भ्रम है। मैं सभी से हंसती बोलती हूँ........पर इन दुष्ट सम्पर्कों को ग्रंगूठे पर रखती हूँ, रानो।"

"होगा—मुझे तो इस हँसने-बोलने में भी कभी दुर्गन्धि ही ग्राती दिखाई देती है। एक से प्यार करो न जी भर कर; जितना कर सको।"

"ग्रच्छा........समझी, पर लता मुझे तो बता........कौन है वह ग्रनूठा जो मेरे इस 'गोल्डेन-एपल' को........, ग्रो। वड़े गौर से देख रही हो। जा रहा है, जाने दो। कुछ हो भी।"

दिनेश ने कार की खिड़की की ग्रोर से उन झूमती कलियों को देखा ग्रौर 'किर्र' करके उसकी कार बाउन्डरी के बाहर हो गई।

तभी लता ने चौंक कर—"क्या कहा ? कुछ हो भी। हो या न हो, मुझसे मतलब।" लता के नेत्र कुछ फैले-फैले, कुछ टिके से रह गये ग्रौर वह ग्रनायास न जाने क्या कह गई ?

"क्यों ? तो तुम्ही एक से प्यार करो, न। तुम्हारा जी ग्रब कब चाहेगा ? ग्ररी, ग्रब तो कहीं टिक जा।"

"ग्रच्छा, कुछ बहुत जरूरी है, क्या ? वैसे मुझे नींद भी ग्राती है, भूख भी खूब लगती है; खूब खाती भी हूँ; मेरा हाजमा-वाजमा भी ठीक है, पढ़ लेती हूँ, ग्राजकल तो सिनमा भी बड़ा रंग ला रहा है;

ग्रौर अपने इस भरे-पूरे घर में कितनी मगन हूँ.......मुझे तो.......,"
लता ने अपनी उभरी नाक पर कई त्योरियां डाल कर किंचित मुस्कराते हुए कहा।

और अमिता चिढ़न में पहले तो उसकी ओर देखती रह गई फिर डपट कर कह उठी—"तो तू सोती कहां है ?"

"कमरे में......।"

"और अम्मा जी ?"

"चुप।"

"तो क्या उनकी नींद, भूख, हाजमा, सितार कुछ ठीक नहीं है क्या, आजकल ?"

"अमिता.......।"

"अच्छा, तुम रुको मैं अभी पूछ कर आती हूं," कहकर अमिता सचमुच चलने लगी !

लता ने उसे गुद-गुदा दिया।

एक पल तो वहां मौन छा गया पर पुनः लता ने आरम्भ करते हुए कहा—"अमिता, गीत सुनोगी।"

"सुना, मेरी रानी, जल्दी सुना, न।"

"मैं, मैं नहीं—पर, हां तुझे जरूर सुनवाऊंगी।"

"तो सुनवा, न।"

"आज नहीं, अब कल। कल शाम को, आयगी, न।"

और अमिता चली गई।

लता यों ही देर तक उधर निहारती रही, उस ओर जिधर से कार अभी-अभी आई थी।

दो वर्ष बाद, अपनी बी० ए० की परीक्षा समाप्त करके अमिता देहली आई थी और अपने चाचा के यहां ठहरी हुई थी। दोनों साथ की लड़कियां थीं, अवस्था दोनों की अंगड़ाइयां भर रही थी। मांसल—उभार में लता जितनी बढ़ रही थी, अमिता की 'पिट्यूरिरी ग्लैण्ड' ने

उसे उतना ही छोटा बना रक्खा था। पतली-दुबली जान लिये अमिता अपने तेवर में किसी को कुछ समझती ही नहीं थीं।

पर हां, वह लता की सुख-दुःख की साथिन थी।

अमिता के पिता देहली सेक्रेटरियेट में कार्य करते थे। वे लता के पिता के भी निकटतम परिचित थे। सरकार में उनका अच्छा मान था और इधर किसी विशेष कार्यवश सरकार ने उन्हें ग्वालियर-राज्य में भेज रक्खा था।

जिन दिनों अमिता अवकाश-काल में देहली आई, शान्तिस्वरूप के यहाँ मधुशाला—गोष्ठियाँ प्रतिदिन सम्पन्न हो रहीं थीं।

छुट्टियों के दिन थे। पारिवारिक सम्बन्धों के नाते वह कई-कई दिन लता के पास रह जाती।

दिनेश ने हृदयाकर्षणों को जैसे अपने बन्धन में कर रक्खा था। हृद्गत उद्वेलन को वह जिधर चाहता, मोड़ता और यह उसमें जैसे प्राकृतिक देन थी।

मिट्टी का पात्र भी समय व स्थान पाकर पत्थर में स्थान बना लेता है। लता के मन-रूपी-कोमल स्थान पर रह-रहकर पड़ी आकर्षण की चोट से अनेक चित्र बनने व मिटने लगे किन्तु स्वभावतः वह निरन्तर उदासीन, सीमित व मौन थी।

पर, अमिता से वह अपने मन के इस चांचल्य को कह बैठी। वह निरन्तर वे स्वर सुनती रहने को जैसे बावली हो उठी है। वह जैसे दिन में अनेक बार उसको निहारते ही रहना चाहती है। उसके नेत्रों में न जाने कैसा-सा टोना है''''इत्यादि।'

और तब—लता के मन की गांठ को, हलकी ही सही—खोल डालने के उपकार रूपी मोह को अमिता भी दूर न रख सकी और उसने इस बात का बीड़ा उठा लिया कि वह लता को दिनेश से पराग-भरा अनुराग दिला कर ही संतोष लेगी।

अमिता इन दिनों लता के बंगले पर ही रहती थी। उसने भी स्वर-लहरी की झंकार सुनी। और वह दिनेश से उलझ गई।

"यहां बड़े भले-सीधे लग रहे हो, जी। लगता है जैसे पानी को पप्पा भी नहीं कह पाते। और उस दिन.......अगर हम लोगों के चोट-चपेट आ जाती तो.......यों सड़क पर उद्दण्डता करते चलते और औरतों को छेड़ते-छाड़ते चलने में यह ऐसी-सी शराफत कहां गुम हो गई थी, जनाब !"

दिनेश चुप......

लता कनखियों से देख व किनारे से सुन रही थी किन्तु उसकी दृष्टि निकटवर्ती फुलवाड़ी के गुलाब पर टिकी थीं जिसकी झूमती दो डालों के दो फूल एक दूसरे पर झुके हुए थे—ज्यों आलिंगन-पाश से अभी-अभी पृथक हुये हों।

और अमिता ने पुनः छेड़ दिया—

"ऐसी भोली सूरत वालों से तो धूर्तता दूर ही रहनी चाहिये....... ऐंजी, बोलते क्यों नहीं ? अरे, लेकिन किसी की शक्ल से क्या पता चलता है कि कौन कितना पाजी है ?"

और दिनेश तिलमिला उठा किन्तु हलकी मुस्की भरे स्वरों में बड़े धीरे से वह बोला—"अब तो आपके घर पर हूं—सजा दे दीजिये.. जो जी चाहे।"

लता—स्वरूपरानी व बच्चों के साथ कमरे में चली गई थी। शान्तिस्वरूप आज अनुपस्थित थे अतः पुरुषवर्ग के अभाव में अमिता व दिनेश देर तक लॉन में टहलते रह कर एक दूसरे का परिचय प्राप्त करते रहे।

अमिता में वह साहस पर्याप्त था, भी।

और उस पहली भेंट में ही अमिता ने अगले दिन लता सहित सिनेमा देखने की बात तय कर ली।

दिनेश को नारी रूपी सब तत्व जैसे समान लगते। जैसे नारी का वह उभरा-दबा मांसल रूप ही शारीरिक उपभोग का चिरन्तन सत्य है। मनोविकारों को अपने मन में स्थान देना दिनेश कम जानता था। वह पूर्णतः क्रियात्मक मन का दावेदार था। और दिनेश सबमें साम्य पाता। सभी उसकी क्रीड़ा-कौतुक के माध्यम हैं। उसके वासना रूपी कोड़े के सामने सब शरीर नग्न हैं। यही उसकी स्थिर धारणायें थीं। और अब वह अमिता पर भी आश्रित था। लता तो पहली झलक में ही उसकी अक्षुण्ण पिपासा बन चुकी थी।

प्यार-दुलार की मिठास भरी बातों से वह अमिता पर भी घूम-फिर कर अनेक बार हाथ फेर लेता। अमिता—उचकती, किन्तु·········सिहरन के उद्रेक में सुख पाती—चाहती वह उसे मदहोश कर दे, उसके अंग-अंग को उत्तेजित करता रहे, उन सबको दाबता-उभारता रहे·········।

किन्तु इस रोमांच में भी उसे अपनी सहेली लता का ध्यान बना था—वह यह सोचती ही जाती कि उसे तो लता से ही परोपकारिता का तमगा प्राप्त करना है।

और दिनेश—उसकी दृष्टि केवल लता पर केन्द्रित थी। रूप के आवरण से झांकता लता का निश्छल यौवन—दिनेश उसे पाकर ही रहेगा—मदिर-यौवन की मादक-हाला—वह उसे पीकर ही रहेगा।

उद्दण्डता की बे लगाम अंगड़ाइयों में दिनेश ने अमिता को अपनी ओर से यह कार्य सौंप दिया कि वह लता तक उसके मन की व्याकुलता व्यक्त कर दे।

शनैः शनैः लता के माध्यम से दिनेश लता की गहराइयों में पैठ गया। शान्तिस्वरूप मुग्ध-मन से अचेत भाव लिये आस्तिक की भाँति दिनेश पर लट्टू हो गये। स्वरूपरानी के प्रिय व्यवहार-सत्कार ने आवागमन को प्रोत्साहित किया और दिनेश—उनकी अनुपम, परागभरी लावण्य-लतिका में सिमट कर रह गया।

किन्तु लता—वह निरन्तर गम्भीर थी। मन साथ छोड़ चुका था इसपर भी मस्तिष्क की विचारशक्ति को उसने सहेज रखा था।

पर—अनुराग भरी दीपावली में मन—प्राण, तृप्ति के अनदेखे प्रकाश की खोज में रह-रहकर मचल पड़ते।

लता का प्यार कनखियों में उभरा अवश्य किन्तु शारीरिक संसर्ग से लता अपने को निरन्तर दूर रखती चली जा रही थी......किन्तु मन टूट रहा था। उसकी शक्ति क्षीण होती चली जा रही थी—उसमें नया ओज भर जाना चाहता था।

अतिरेक की सिहरन—उसकी सँभाल, कोई कब तक टिकता, लता कहाँ तक रुकती ?

अनेक अवसरों पर लता फिसलते-फिसलते बची, संभली और तब हाथ-पैर झाड़ कर दूसरे दिन की दिनचर्या में लीन हो गई किन्तु सामने से आते तूफान की हिलोरें उसकी जड़ें ढ़ीली कर रही थी। वह संभल-संभल कर जमना चाहती किन्तु ....वह अवश हो रही थी।

रूप की गागर लिये—वह कोमलांगी अनेक बार सोच भी जाती—'क्यों न डाल दूं अपनी नाव थपेड़ों के बीच और तब नाविक से, कभी किसी दिन पूंछ लूंगी—"बोलो प्रिय, क्या कहीं किनारा सूझता है ?

किन्तु वह सोचती चली जाती—अर्पण का वह सुख अमित होगा। परन्तु वह सब दोष-पूर्ण है। संस्कार—मान्यतायें वे उसे रोकते क्यों नहीं ?

इस मानसिक द्वन्द्व में वह दिनेश की छाया से दूर भागती किन्तु उसकी प्रणय-धूप में प्रकाश पाती चली जा रही थी।

और प्रारम्भिक प्रणय के अनिश्चित से वातावरण में लता को परिवार सहित यकायक बम्बई जाना पड़ा।

स्वरूपरानी की बम्बई देखने की अभिलाषा को शान्तिस्वरूप ने भी प्रोत्साहित किया।

४

"कहो, दिनेश, क्या हाल-चाल हैं ? आजकल तो दिखाई नहीं देते। क्लब भी नहीं आते," आनन्द ने दिनेश को केनाट-प्लेस की दूकान से निकलते हुये टोक दिया।

"अरे हां यार, वो कुछ मिलिट्री-कन्ट्रैक्ट के चक्कर में लगा रहा, इधर," दिनेश ने आनन्द के कन्धों पर अपने दोनों हाथ टिकाते हुए उत्तर दिया।

"सो तो मालूम है। चक्कर—वह तो तेरे साथ है। लेकिन भई, मानता हूँ, तू भी है तक़दीर वाला। भौंरे की तरह तुझे भी रस-ही-रस बिखरा मिलता है, सब तरफ़। और बता क्या रंग चल रहे हैं ? नया रोमांस..........., सुना है बड़ी 'ब्यूटीफुल' है।"

"अबे आनन्द। यहां यह क्या बके जा रहा है ?"

"बक रहा हूँ—या ठीक कह रहा हूँ। लेकिन पूछता हूँ—तब ये नई-चावड़ी वाली किसकी जान को रोवेंगी अगर तुम्हारे जैसे रोमांस करने लगे...........", आनन्द ने फुटपाथ से एक ओर हटते हुए कहा।

"क्यों, हम क्या नहीं कर सकते ? पर छोड़—शाम को तू तो जावेगा ही जरा हीरा से कह देना—बिगड़े नहीं, मैं आज जरा बम्बई जा रहा हूं। ५-७ दिन में लौट आऊंगा।"

"और वो तुम्हारी दूसरी—कंचन। बोलो उससे भी कुछ कहलवा

हो। उसका 'हीरा' पहुंचा दिया। कल ही झींक रही थी—कई हजार का है।"

"अबे पागल हुआ है। बम्बई और काहे से जा रहा हूं। अपना माल भी तो इन्होंने ही उतारा है। कभी-कभी उन पर भी हाथ साफ करने में उनके बाप का क्या जाता है, बे ?"

"हां भई, आजकल तो सेठ शान्ति सरूप को लेकर घूमने लगें," आनन्द ने दिनेश की आकृति में जैसे कुछ पढ़ते हुए कह डाला।

दिनेश जैसे चौंका। प्रसंग को वह टालना चाहता था कि सामने ही सड़क पर उस की कार आ लगी और शीघ्र ही वह आनन्द से विदा हो लिया।

"बिना चूके आनन्द भी कह गया—"तो गाड़ी अभी चल रही है।"

"वह तो हमेशा चलेगी। चलो, तुम्हें जहां कहो छोड़ दूं।"

"विंडसर—प्लेस तक जाना था। चल, तेरी ही गाड़ी का उपकार करूं।"

दोनों हंसते हुए गाड़ी में आ बैठे। आनन्द ने देखा, उसके किसी समय के गहरे मित्र श्री अक्षय बन्धु जी किसी हंसती-खेलती-चांदनी सी शीतल छाया को कार में छिपाये हैं।

"देख बे आनन्द............", "दिनेश ने पीछे मुड़कर, गर्वोन्नत होते हुए कहा।

"अरे भई, कह दिया न कि तेरी गाड़ी यों ही चलती रहेगी।"

कार आगे बढ़ गई।

× × × ×

"लता, ग़जब होगया," अमिता ने लता के कान में फुसफुसाते हुए कहा।

"क्यों, क्या हुआ ?" गुलाबी ओठों को तनिक हिलाकर सहज स्मित में लता नें प्रश्न किया।

"वह तुम्हारे चहेते यहां, यहां पधार गये हैं।"

"क्या मतलब, बम्बई.........," लता ने चौंककर पूछा।

"जी हां, बम्बई। बम्बई नहीं, यहां से ठीक ऊपर तीसरी मंजिल में एक कमरे में झूम रहे हैं। और लो," स्लिप देते हुये अमिता ने मुस्करा कर कहा।

एक सांस में लता पढ़ गई—

मेरे प्यार की रानी,

मैं आगया हूं। मैंने कहा था न कि मैं आऊंगा। मेरा वादा... .... पूरा हुआ। अब तुम्हारी बारी है......... इसी होटल में तीसरी मंजिल में, दाहिने हाथ बिलकुल कोने वाले कमरे में, शान्त पड़ा तुम्हारी बाट जोह रहा हूं। आओ....अकेले....ओ गलती होगई....नहीं, नहीं किसी को साथ लेकर, नहीं अमिता को साथ लेकर।

—दिनेश

आवेश में लता का शरीर जैसे कांप गया। रोमांच में उसका रक्त-प्रवाह तीव्रतर होगया। उसकी सलोनी आकृति में रक्त-कमल-सी लालिमा दौड़ गई और वह स्थिर-अस्थिर-सी सोच गई—यह बड़ा ग़लत है। यहां क्यों आये ? कोई क्या कहेगा, क्या सोचेगा।

"क्यों, ऐसी क्यों होगई," अमिता ने छेड़ते हुये कहा।

"कुछ नहीं, सोच रही हूं इनको यहां नहीं आना चाहिये था। व्यर्थ कोई कुछ सोचे। और मैं कहती हूं यों पंख लगाते घूमेंगे तो मेरा नमस्कार," लता ने किंचित गम्भीर होते हुये कहा।

एक पल रुककर पुनः लता बोली—"देखो न, कल यों ही प्रसंगवश तुम्हारे सामने ही चाचाजी कह रहे थे कि उस लड़के का आना-जाना उन्हें अच्छा नहीं लगता है......... ।"

"लेकिन, अम्माजी तो चाचाजी पर बिगड़ी थीं इस बात पर।"

"जो हो, मुझे यह सब पसंद नहीं है। बात वह, जो हो और कोई......... ।"

"जाने नहीं," अमिता ने जोड़ दिया।

"हां, हां, तुम यों क्यों नहीं बोलोगी, कमीशन भी मिल रहा है, न," लता ने हंसकर कह ही तो दिया।

"देखो लता.........," अमिता के तेवर चढ़ गये।

"तेज होगई, रानी। चलो छोड़ो, लेकिन बोलो अब होगा क्या? और बम्बई भर में इसी होटल में जगह मिली थी। यहां किसी ने जान लिया, तो?"

और कुछ कोई कहे नहीं, कुछ देखे नहीं, देख पावे नहीं तो....तो सब स्वीकार्य है, सब स्वाभाविक है, सब चलता है, सब चलता रहता है....नारी की यह आत्म-तुष्टि और गति-विधि में वैसे से बचाव, सामाजिक दृष्टिकोणों के आधार पर बड़े स्वाभाविक हैं और तब वह अपने प्रिय से वैसा करा भी लेती है।

"लिखाया तो तुम्हीं ने था। हां, मैंने यहां का पता जरूर अपनी ओर से लिख दिया था," अमिता ने लता को गुदगुदा दिया।

और लता सोच गई—'धूर्त, पिताजी पहुंच गये होंगे, तभी वहां से चल दिया,' और जैसे एक अप्रत्याशित पुलक उसके शरीर भर में दौड़ गया। और वह कुछ व्यवस्थित होकर बोली—"तुमने यह अच्छा नहीं किया।"

"अरे, मैं तो भूल ही गई," और अमिता ने अपने हाथ के कागज के झोले से निकालकर एक 'टॉफी' अपने मुंह में रक्खी और एक लता के मुंह में मना करते-करते जबरदस्ती भर दी। तत्क्षण स्वरूपरानी नें कमरे के बाहर आते हुये कहा—"यहां बरामदे में दोनों खड़ी क्या बातें कर रही हो? घूमते-घूमते अभी थकी नहीं। कहीं फिर जाने की सोच रही हो, क्या? चलो, अन्दर आओ, कपड़े बदल लो।"

लता के विशेष आग्रह पर अमिता भी उसके साथ बम्बई चली आई। बम्बई आकर इन दो हमजोलियों ने घूम-घूमकर ढेर लगा दिये।

थे अभी-अभी एक स्टुडियों से 'शूटिंग' देखकर आ रही थीं कि बड़ी सफाई से रामू ने दिनेश की स्लिप अमिता को दे दी।

अमिता नें अन्दर आकर साड़ी बदल ली और लता साड़ी उतार ही रही थी कि अमिता ने आगे बढ़कर उसके उभरे उरोजों के एक दल को मसलते हुये कहा—"चलो ऊपर हो आयें," और वह लपककर हट गई।

"दुष्ट.........," कहकर लता संभली और धोती के पल्ले को सर पर लपेटते हुये वह अमिता की ओर बढ़ी। लता ने अमिता को जा पकड़ा और उसकी उंगली जोर से दाबते हुये बोली—"इसमें तुझे क्या मजा आया......... ?"

"हाय रे ! ....," जोर से चिल्लाकर अमिता छटककर दूर खड़ी हुई और कहने लगी—"उसी के लिये तो कह रही हूँ, चलो ऊपर चलें, न।"

"जा तू हो आ......... ।"

दिन ढल जाने पर अमिता चुपचाप दिनेश के कमरे में आई।

अमिता को सामने देख दिनेश जैसे बांसों उछल गया। नशे की उस तेज धार में सामने जो भी दिख जाय और दिनेश ने अमिता को जकड़ लिया। किसी प्रकार बन्धन-मुक्त होकर सम्भलते हुये अमिता बोली—"बड़े बत्तमीज हो, जी। मैं बात करने आई हूँ और आप अपना शराबी रंग दिखा रहे हैं," और वह लौट जाने को उद्यत हुई।

दिनेश ने लड़खड़ाते हुये पलंग पर से उतरते-उतरते कहा—"माफ कर दो। अच्छा, सुनो ...जाओ मत। अच्छा, बैठो, यहां बैठो," और दिनेश ने, अमिता को पलंग से कुछ हटकर पड़े हुये सोफे पर ढकेल दिया।

अक्षय इस समय अपने किसी परिचित को ढूंढने गया हुआ था और रामू होटल की रसोई में खड़ा वहां के कर्मचारियों से गप लड़ा रहा था।

अमिता के सोफे पर टिकते ही दिनेश उसपर छा गया और उसने उतावलेपन में उसपर अनगिनत चुम्बनों की बौछार कर डाली।

हाथ-पैरों की कुलबुलाहट में पहले तो अमिता ने कुछ विरोध दिखाने का निरर्थक प्रयत्न किया और तब संसर्ग के अतिरेक में विमोहित सी—सीपी में पड़े वर्षा-बूंद सी, सिमट कर, मौन हो रही।

कमरे में छत की 'मिल्की लाइट' प्रकाशित हो रही थी। कमरे की फैलती दीवारों पर पश्चिमी महिलाओं के अनेक नग्न अथवा अर्धनग्न चित्र झांक रहे थे। सोफे की पीठ से तनिक हटकर, भव्य मसहरीदार पलंग पड़ा, सुनसान में किसी प्रतीक्षा में था। सोफे के नीचे वाले बड़े कालीन पर दो बड़े-बड़े हिरण, एक दूसरे का मुंह चूमते मौन पड़े थे। उसके ऊपर की बीच की गोल मेज़ पर—'ब्लेक एण्ड व्हाइट' की बोतल व पास ही दो गिलास रखे थे। एक रिक्त था व दूसरे में गिलास की तह में शरबती रंग उभर रहा था। दरवाज़ों पर चारों ओर झूलते पर्दे हल्के नारंगी रंग के रेशम में छींट छिपाए लहर ले रहे थे। कोने में रखी 'कार्नर टेबिल' पर रखा रेडियो बड़ी महीन आवाज़ में किसी अंग्रेज़ी 'कन्सर्ट' की ध्वनि कमरे में बिखेर रहा था—

और अमिता कह उठी—"यहां से उठो।"

दिनेश ने उठकर""हिलते-डुलते आकर बाहर का द्वार बन्द किया और पलंग पर तकिये संभालने लगा।

अक्षय जब लौटा तब रामू 'क्रीमकाफी' के दो प्याले तैयार कर रहा था और दिनेश तथा अमिता सोफे पर बैठे बातचीत कर रहे थे। दिनेश का हाथ अमिता के कन्धे पर टिका था और वह कह रही थी""

"यहां सब तुम्हारे खिलाफ हैं।"

"तुम मत होना, बस सब ठीक हो जावेगा। सब ठीक.... ।"

"तो तुम यहां आये क्यों ?"

"तुम बुलाओ और हम न आवें?" मुस्कराहट की छलना में नेत्रों को बरबस फैलाते हुए दिनेश और सिमटता गया।

अक्षय वहीं सामने जाकर सोफे पर आ बैठा। अक्षय की दृष्टि से, न जाने क्यों, अमिता कांप उठी और—"अब चलूंगी"—कहकर उठने लगी।

"तो·········," दिनेश ने अपनी 'ग्रिप 'ढीली करते हुए कहा।

"कल लता को लेकर आऊंगी। लेकिन बाहर मत निकलना, बताये देती हूं," कहकर अमिता चली गई।

× × × ×

"बड़ी देर लगाई····," प्रतीक्षा में उलझी लता ने प्रश्न किया।

"कहती हो देर लग गई। तुम्हारे लिये जो भी करना पड़े·········," अमिता ने अपने दोनों हाथों से दोनों कन्धों को किंचित दबाते हुए कहा।

"क्यों, दर्द हो रहा है·········," लता मुस्करा दी।

और अमिता ने कुछ बातें छोड़ कर, कुछ बता कर, लता को समझाया कि कितना तंग किया है, उस 'शैतान' ने।

"तो—शिकायत की क्या बात है ? न सही मि॰ वर्मा, मि॰ दिनेश सही," कहकर लता ने इस बार उस क्रिया का प्रत्युत्तर कसकर दे डाला जिसको अमिता ने साड़ी पहनते हुए लता के साथ किया था और इस बार अमिता चीख कर दोहरी हो गई।

अमिता की नस-नस में दर्द था, ऊपर से अमिता का यह प्रहार। वह हांफती हुई बोली, "मैं वैसे ही कांप रही हूं, न जाने क्या होने को है और तुम और मेरी जान लिये डाल रही हो। मुझे तो, इस समय तंग करो मत। हां, कल सुबह चलना, बुलाया है। बहुत परेशान हो तो अभी चली जाओ। बड़े 'मूड' में है," कहकर अमिता जैसे शुष्क-सी हंसी हंस दी।

एक दो मिनट बाद अमिता उठी और बाथरूम चली गई। लता बैठी सोचती रही—मुझे क्या हो रहा है ? मैं कैसे व्यक्ति से घिर रही हूं ? यह शराब, इतनी बुराइयां, जो हर लड़की को यों चूम लेता है

उस पर विश्वास-अविश्वास; और अमिता—जितना जो कुछ कहती है, ठीक होगा, लेकिन क्या पता ? अमिता का यों वहाँ रुकना—छोड़ो, होगा। कुछ गलत नहीं है, वह आकर बेचारी सब ठीक-ठीक ही बता देती है। किन्तु उसका ढंग, बड़ा सन्देह-सा लगता है मन में। होगा—मुझे इससे क्या ? कौन मुझे·········? लेकिन चाहकर भी मैं उधर से मन क्यों नहीं घुमा पाती ? और अब तो वह यहाँ····आ गया। तो मैं प्रेम-दान, जीवन की ऐसी निधि, उसे सौंप दूं — नहीं, हाँ,; किन्तु मैं घिर रही हूँ। वह घेरता चला जा रहा है।

५

दिन भर कहाँ रहे ?" दिनेश ने अक्षय से प्रश्न किया।

"रहा कहाँ। सोचा 'स्लिप' पहुँच गई है। अब तो कमरा, इसके बाद, 'रोमेन्टिक' रहेगा इसलिये तुम्हें पलंग पर औंधा देखकर मैं चला गया। लेकिन, वा , जाना सिद्ध होगया। क्या चीज ठीक करके आया हूँ.... ?"

"ऐ....अ, यहाँ तुम्हारी बदमाशियाँ चलती रहीं तो कमरे के बाहर कर दूँगा, समझे। अब, यहाँ यह सब कुछ नहीं चल पावेगा। तुम, साले मुझे ठीक से नहीं रहने दोगे। यह माल, वह माल। अबे कुछ तो चैन लेने दे। अभी अमिता कह रही थी—पंछी रह-रहकर उखड़ता है। यहाँ 'ए. वन' मामला पक रहा है....और अगर उसे ये हरकतें पता लग गईं तो........।"

"तो क्या होगा ? कुछ नहीं। लाख जान जाय। अगर दिल दे बैठी तो हर बार माफ करती रहेगी," अक्षय ने टोक कर कहा।

"लेकिन मैं अब ऐसा नहीं करूंगा। मैं अब सोचता हूँ एक का होकर.......," नशे के उतार में जैसे दिनेश किसी दैविक अन्तर्मन से बोल गया।

"चलो, हमारे जैसों को भी छुट्टी मिलेगी। दूसरा घर ढूंढ लेंगे लेकिन भगवान् का परसाद चढ़ायेंगे, अगर तुम....," कहते-कहते अक्षय

रुक गया। उसकी दृष्टि एकाएक पलंग की चादर पर टिक गई और वह उंगली के संकेत से दिनेश को उस ओर देखने के लिये इंगित करके बोला—"एक के होकर रहेंगे''''तो हम भी मर नहीं जायेंगे।"

एक कड़कती आवाज़ कमरे में गूंजी, "रामू'''' ।"

रामू के आने पर दिनेश ने इशारे से कहा—"दूसरी चादर बिछाओ'''' ।"

कुछ देर दिनेश अपनी हथेली पर माथा टिकाये बैठा रहा। कमरे में काली-आंधी के बाद की-सी उदासी छाई रही और तभी दिनेश ने अक्षय से कहा—"अक्षय, तुम कल से मेरे साथ इस कमरे में नहीं रहोगे। या तो यहीं दूसरा 'रूम' ढूंढ़ लेना या मुझसे रुपये ले जाना, जब तक मैं बम्बई में हूँ, दूसरे होटल में कमरा ठीक करके रहना, और वह मन के अपरिमित क्षोभ में, आत्म-ग्लानि की अनचाही-सी प्रवंचना में, वहीं सोफे पर लुढ़क गया। क्योंकि इसपर भी उसे 'ग़लत-सही' स्थिर कर लेने का मानसिक संतुलन किंचित् भी न था। चादर के वे रंगीन धब्बे—उन्हें—उसने इसी प्रकार इससे पूर्व भी कई बार देखा था।

उसी रात''''''''

वह क्षणिक मानसिक-द्वन्द्व विलीन होगया। 'ग़लत-सही' वह बीती बात होगई। उसे लगा जैसे वह फिर मन की ताज़गी में है। विचार-वैषम्य का वह झीना पर्दा उड़ गया है वैसे ही जैसे बाज़ को देखकर दूधिया-भोला-कबूतर मन की स्वच्छता के से पंख फड़फड़ाकर उड़ गया हो और पुनः मन का शैतान अपने स्थान पर पैर और बाज के से पंख दबाकर दबोचने की प्रक्रिया में प्रयत्नशील हो।

और वह पुकार उठा—

"वाह, क्या बात है। वाह, वाह, क्या गला पाया है''''''''जिओ," कहकर उसने अक्षय के कन्धे पर अपना हाथ पटक दिया।

खिन्न अक्षय भी गुनगुनाहट में हँस पड़ा और स्वर गूंज गया—

रुन, झनन, झन, झुन, तन न, तून न·················· ········

घुंघरुओं की इस लोचभरी झंकार से दिनेश झूम-झूम गया और अक्षय भी चैतन्य होकर कान टिकाये रहा।

"किन्तु सुनिये, अक्षयराम जी, यहां झरोखे से झांक कर क्या झक मार रहे हो। बाहर जाकर ठीक से पता तो लगा····वे, है कौन ?" कहते-कहते दिनेश सोफे की पीठ पर लुढ़क गया।

रात को लगभग दो बजे थे। निकट के कमरे के बन्द झरोखों से बहकर आते हुये संगीत की ध्वनि व पैरों की तिलमिलाहट चारों ओर फैल रही थी जिससे दिनेश के कमरे के अतिरिक्त निकटवर्ती अन्य कमरों का वातावरण चंचल हो उठा था।

अक्षय टटोल में बाहर निकला।

उसके कानों में स्वर गूंजा—"होटल में यह मुजरा········।"

दूसरी ओर आवाज़ आई—"देखिये मान जाइये, इतने बड़े होटल में यह गाना-बजाना ठीक नहीं है।"

"चुप रहो····रुको मत। यों ही नाचती रहो," एक चिड़चिड़ाती और तेज आवाज़ बाहर फैली।

"बड़े तबियतदार हैं, साहब········," सम्भवतः निकट के ही किसी सज्जन ने बाहर आकर कहा।

"कोई बम्बई के बाहर का मालूम होता है," एक और व्यक्ति ने बरामदे में लपक कर आते हुए कहा।

"क्यों क्या बम्बई वाला नहीं आ सकता ?" पहले व्यक्ति ने कहा।

"कोई होगा—या तो यह बन्द होना चाहिए या मैं अभी इसकी 'रिपोर्ट' करता हूं," एक तीसरे व्यक्ति ने कहा।"

और अनायास—थिरकन रुक गई। संगीत के मधुर राग विलीन हो गये। हारमोनियम व तबले, मुंह बन्द करके, थम गये। उस कमरे का प्रकाश अन्धकार में परिवर्तित हो गया। और तुरन्त अन्दर से आई एक तेज—चीख, एक पुकार········

"ग्राह········मार डाला, बचाग्रो, बचाग्रो।"

एक मौन छाया, तत्पश्चात् एक कोलाहल वातावरण को रौंद गया ग्रौर तब तेजी में उस कमरे का द्वार खुला। साथ ही एक व्यक्ति चिल्लाता हुग्रा बाहर निकला—"बेचारी की जान ले ली········।"

ग्रक्षय सहित पास खड़े दोनों-तीनों व्यक्तियों ने उस व्यक्ति से प्रश्न किया—"क्या बात है ?"

हाँफते हुए उस व्यक्ति ने, जिसके बायें हाथ में सारंगी लटक रही थी—उत्तर दिया, "खून········कत्ल।"

"ग्रो मर्डर, मर्डर," कई स्वर बाहर ग्राये।

ग्रौर वह सारंगी वाला कहता गया—"ग्रजी वह लड़की, वह गा रही थी। नाच रही थी। कमसिन की जान ले ली। वह जरूर मर गई होगी।"

ग्रब तक उस कमरे के सामने, ग्रौर बहुत से व्यक्ति एकत्र हो गये थे········"पुलिस", "फोन", "देखो भागने न पाये", के मिले-जुले स्वर बाहर ग्राते रहे।

उस कमरे में पुनः प्रकाश हुग्रा।

एक उत्तेजना फैली ग्रौर वातावरण में उत्सुकता के ग्रतिरिक्त कुछ भी शेष न रह गया।

उसी प्रकार दस मिनट या कुछ ग्रधिक बीता ग्रौर तब सामने से ग्राकर पुलिस-द्रुतगामी-दल चारों ग्रोर फैल गया।

ग्रक्षय ने दौड़ कर दिनेश को सूचना दी—"बेटा, बड़े लट्टू हो रहे थे। लो किसी ने छुरी पेट के पार कर दी।"

सहमते से दिनेश ने संभल कर बैठते हुये कहा—"क्या हुग्रा ? कोई इंसान भी इतना जालिम था कि कमसिनों पर वार कर बैठा," ग्रपनी बलखाती उंगलियों को थिरकाकर वह ग्रक्षय से बोला—"ग्रक्षय, जाग्रो, जाग्रो। बाहर पूरा पता लगाग्रो····कौन है ? क्या हुग्रा ? क्यों हुग्रा ? ग्रब क्या होगा ?"

"होगा तुम्हारा सर....," कहकर अक्षय बाहर चला गया।

और एक सूटधारी नवयुवक को इंस्पेक्टर पकड़े हुये खड़ा था। सुरमई आँखों में शराब की लाली चमकाते, अपनी छुरी की भांति अपनी आँखें लपकाते इनकी दृष्टि जो घूमी तो अक्षय पर आकर टिक गई—

"ओ, वीरेन्द्र," धीमे से कहकर अक्षय दो पग पीछे हट गया।

अक्षय को देखकर वीरेन्द्र ने दांत कटकटाये और वह इंस्पेक्टर से अपना हाथ छुड़ाकर उसकी ओर लपकने लगा, तभी इंस्पेक्टर नें उसको सिपाहियों के सुपुर्द कर दिया जो उसे वहाँ से हटा ले गये।

अक्षय सहित अन्य व्यक्ति भी इंस्पेक्टर के साथ कमरे के अन्दर गये। उस मरणासन्न स्वर-सुन्दरी को देखकर अक्षय सन्न रह गया और चुपचाप भीड़ से अलग होकर दिनेश के निकट आया।

दिनेश को दोनों हाथों से पूरी शक्ति भर झकझोर कर, हांफते हुए, अक्षय ने कहा—"दिनेश ! चलो, जल्दी चलो। उठो।"

जैसे बीहड़ नींद से उठकर दिनेश सीधा हो गया। एक उचटती दृष्टि उसने अक्षय पर फेंकी और झूमते हुये पुनः आँखों में शराब का सागर छलकाता, सोफे पर उढ़क गया।

इस बार अक्षय ने उसे खड़ा कर दिया और आगे ढकेलते हुये बोला—"चलो।"

अक्षय आगे-आगे और दिनेश उसके पीछे-पीछे उस कमरे में आये। दिनेश ने जैसे विवशता में, प्रयत्न करके अपनी पलकों को खोला और भूमि पर बिखरे उस रूप की लालिमा को देखकर वह चौंक पड़ा। ज्यों उसका नशा हिरन हो गया हो, एक लहर अन्तरङ्ग में दौड़ी और वह सचेत होकर देखने लगा।

अक्षय ने दिनेश को किंचित आगे बढ़ाया।

दिनेश के सारे शरीर में किसी ने जैसे बिजली का करेंट दौड़ा दिया हो। जैसे, उसके मुंह पर दस-पन्दरह, बीस तमाचे लगाकर, किसी नें उसे सीधा खड़ा कर दिया हो और वह चौकन्ना होकर बुदबुदा

उठा—"ओ, यह यहां ?" दिनेश के मुंह से अनायास निकल गया जिसे निकट खड़े इंस्पेक्टर व अन्य व्यक्तियों ने सुना।

तत्क्षण भूमि पर पड़ी सुन्दरी का वक्ष फूला। अनुपम रूप-मयी नारी में कुछ गति हुई। एक क्षण के लिये—उस पल भी रूप की मदिरा उड़ेलते हुये उसने अपने नेत्र खोले, इधर-उधर दृष्टि फेंकी और तब सामने दृष्टि टिका कर वह चीख उठी—"दिनेश....।"

और उसकी गर्दन घूमकर थम गई।

समाप्त....!

इंस्पेक्टर ने उसके पूर्व अक्षय को देखकर वीरेन्द्र को तेज होते हुये देखा था। इस समय दिनेश की गतिविधि देखकर उसने दिनेश से प्रश्न किया—"आप का नाम ?"

"दिनेश....।"

और सब-इंस्पेक्टर ने कहा—"आइये मेरे साथ।"

बिना कुछ सुने दिनेश धीरे-धीरे अपने कमरे की ओर बढ़ गया और अक्षय आगे आकर इंस्पेक्टर से वार्तालाप करते-करते उसे एक ओर ले गया।

६

अमिता आज अत्यधिक व्यथित थी। काया-कष्ट के साथ-साथ उसका मन उससे अधिक खिन्न, निराश और अविश्वसनीय-उपेक्षा की-सी स्थिति में चीत्कार कर उठने को तड़प रहा था। प्रातःकाल जब गुदगुदा-कर लता ने उसे जगाया तो कराह के साथ उसने अपनी गर्दन को जैसे पलंग की पट्टी पर दे मारा—किन्तु लता के समक्ष व्यवस्थित बने रहने के कारण, वातावरण व अन्य व्यक्तियों के समक्ष अपने को पूर्ण स्वस्थ, मन व तन से पूर्ण नीरोग व्यक्त करने के ध्यान में, वह उठ बैठी।

जिस दिन उसने जाना था—कि यौवन उसके द्वार को खटखटा चुका है, जिस दिन लोगों ने माना था कि वह यौवन की दीवार के सहारे खड़ी तो रहे किन्तु सजग, इधर-उधर झांक-झूंक न करे, जिस दिन से उसके तन ने वे घंटियां हिलाना आरम्भ कर दी थीं जिससे उसे लगा कि उसके शरीर भर में कुछ भरा-भरा, कुछ भारी-भारी अतिरेक की कुछ असहनीय-सी गति-सी घिर गई है—उसी समय से उसने अपने को 'रोमांस' की देवी मानकर पुजाना आरम्भ कर दिया था।

किन्तु आज उसके 'रोमांटिक-तत्वों' पर किसी ने जोर का मुक्का दे मारा था। हठात् वह अतृप्ति की दीवार लांघ गई—उतावलेपन में, नूतन-अनुभव की चाह में, असहायावस्था में किन्तु जान-बूझकर यांकि

उसकी-सी विशृह्खलता में, 'सेक्स' के रूप को कनखियों से नहीं पूरी तरह घूंघट खोलकर देखने की जुगुप्सा में निश्चित वह होकर ही रहता।

यों पढ़ने-पढ़ाने में वह बड़ी तार्किक भले ही रही हो—भले ही वह यह जान-मान कर दूसरों पर आरोपित कर देती हो कि बन्धन की लगाम ही प्रत्येक को और अधिक उतावला बनाती है; आकर्षण को उसी से जागरण मिलता है किन्तु अब वह यह सोच रही थी कि बन्धन की लगाम ढीली कर देने पर इस क्षण वह क्या पा गई और तब भावी-निराशा की अकल्पित-सी उत्तेजना में वह गर्दन डालकर अपने नेत्र शून्य में टिका लेती।

और आज तो प्रथम दिवस ही था—

किन्तु दूसरी ओर लता रह-रहकर छेड़ देती—"अमिता, बड़ी परेशानी-सी हो रही है। चलो, ऊपर चलें न।"

और प्रत्येक वार अमिता का अन्तंमन कराह उठा तथा उसी की पुकार में उसने उसे उत्तर दे दिया—"मैं, मैं तो नहीं, हां तुम हो आओ, न। जाओ हो लो।"

तब पुनः चीखते स्वर मे अनजाने वह कह गई—"लता, नहीं अकेले नहीं, अकेले मत जाना। वह कभी, कभी ठीक नहीं। किसी के साथ जाओ। किन्तु किसे ले जाओगी। नहीं अकेले नहीं, मैं साथ चलूंगी, चलूंगी।"

और लता ने अमिता की विचित्र-सी उलझन देखकर न जाने क्या सोचते हुये प्रश्न किया—"क्या हुआ है आज तुम्हें ?"

"कुछ तो नहीं। यों ही मैं कह रही थी। वहां का वातावरण ठीक नहीं है, न। उसके साथ कोई और भी ठहरा है।"

और जब आसपास शब्दों की नीरवता छा गई तो वह सोच गई—और कोई—कौन ? केवल उसके अन्दर का भयानक 'शैतान'।

× × × ×

सुमुखि तुम्हारा सुन्दर मुख ही

..............माणिक मदिरा..........

भीगे सर को रोंयेदार तौलिये से रगड़ते हुये, स्फुट शब्दों में गुनगुनाता हुआ दिनेश ज्यों ही 'बाथरूम' के बाहर आया उसने सामने देखा—

रूप का लास, यौवन की आस, वैभव का निखार और उसमें इठलाता पीतवसन और उसमें से झांकता कुंदन-सा तन, कुंतल केशराशि सहित आल्हाद भरा मुख.....और उसका तौलिया कन्धे में लिपट कर रह गया, नेत्र अपलक टिक गये और दोनों हाथ अनायास 'नमस्कार' को जुड़ गये।

लता ने नमित नेत्रों से प्रत्युत्तर दिया और उत्तर में जैसे ही दिनेश बोला—"आइये, विकल आइये....." तो उसकी दृष्टि ठिठुर कर, सहम कर रह गई—अमिता अपनी रूखी-सी आकृति लिये लता के पीछे आ खड़ी हुई।

मस्तिष्क की निर्मल व निखरी-धुली अवस्था में जब व्यक्ति ठीक-ठीक या व्यतीत सोच पाता है। वैसे ही दिनेश सोच गया—गत-संध्या कैसी भयावह थी—जो पार होगई। और इस क्षण उस आवेश की निरीहता में दिनेश व अमिता दोनों ही छटपटा गये।

वातावरण में मौत-की-सी उदासी छाई हुई थी, तब, जबकि अनुराग की चेतना में वहां पूजन और आरती की-सी स्वागत की अर्चनाभरी सुगन्धि को सुवास बिखेरना उचित था। वह अविश्वसनीय अवस्था, स्थान व काल था, न। लता अपने से दिनेश तक प्रथम बार आई थी।

जो हो, पुरुष में अपने किये पर एक दम्भ भी तो होता है न और नारी से एक विशेष बल व साहस जिसे दिनेश ने उस क्षण बटोरा और पूर्ण व्यवस्था में पलक मारते ही अपनी चिर-उन्मादिनी मुस्कान में वह

कह गया—"बैठिये न, आप लोग यों खड़ी मुझे क्या देख रही हैं ? यों क्या मैं अधिक सुन्दर दीख रहा हूं ?"

लता, नमन व अमिता स्मृति के तिरस्कार की मुद्रा में—गद्देदार कुर्सियों पर आ बैठीं।

दिनेश-तुरन्त साथ वाले ड्राइङ्गरूम में कपड़े पहनने चला गया।

लता की दृष्टि अनेक बार कमरे की दीवारों का चक्कर काटकर प्रत्येक बार अपने पीछे पड़े पलंग की ज्योत्स्ना में केन्द्रित हो जाती। चांदनी की धवलता उस क्षण उसे प्रिय लग रही थी।

और अमिता—उसके चतुर्दिक जैसे एक बड़ा भारी, बड़ा भीषण, काला-सा घेरा घिर रहा हो। उसे न दीवालें ही दिख रही थीं न वह पलंग जिसके प्रति एक महान् अनदेखी-सी आस्था उस क्षण लता के हृदय में पनप रही थी।

और लता ने अमिता से कहा—"झूठ क्यों कह रही थी ? यहां और कौन ठहरा हुआ है ?"

उसी समय अक्षय ने कमरे में प्रवेश किया। उसके हाथ में 'स्लोलाइड-पेपर' में बन्द एक बोतल थी जिसे वह बन्द-मदहोशी में ही लिये चला आरहा था कि सोफे पर लता व अमिता को देखकर वह ठिठक गया और चुपचाप उलटे पैरों बाहर लौट गया।

घूमते ही उसे गत रात्रि वाला इंस्पेक्टर दो अन्य इंस्पेक्टरों सहित समक्ष दिखाई दिया। न जाने किस कठिनाई से वह हाथ की बोतल किसी प्रकार हाथ घुमाकर पीछे कर पाया और उनसे बातों में संलग्न हो गया।

अक्षय को देखकर उस क्षण लता ने एक प्रश्नासम दृष्टि अमिता पर फेंकी और पूछ बैठी—"यही है वह दूसरा व्यक्ति।"

"हां, हाथ में बोतल लिये हुये।" अमिता ने विद्रोहात्मक उत्तेजना में उत्तर दिया।

"समझी", कहकर लता मौन होकर पुनः दीवार पर टंगे नारी के उस रूप को सोचती गई—देखती गई—जो प्रकट रूप में यों खुलकर सामने आ जाता है।

तभी दिनेश अपनी स्वच्छ श्वेत वेश-भूषा में, लकालक कुर्ता व धोती झलकाता, हाथों से बाल व कंघा संभालता, सामने ही सोफे पर आ बैठा।

उत्फुल्ल में उसके शब्द ज्यों विलीन होगये थे। वह मुस्कराता ही रहा किन्तु अन्त में उसने ही उस निस्तब्धता को भंग करते हुये कहा—आप आगईं····।"

पुनः एक मौन बिखरा किन्तु इस बार लता की बारी थी। हृदय की तीव्र धड़कन में, लजाई-सी, सहमी-सी वह भी कह गई—"आप भी तो····।"

"आगये—हां आ तो गये किन्तु सोच रहा हूँ—सुन रहा हूँ—देख रहा हूँ, आप लोगों को मेरे आगमन से बड़ी परेशानी हो गई," कहते-कहते दिनेश की दृष्टि अमिता पर टिक गई।

लता ने भी घूमकर अमिता को देखा और इन दृष्टियों से तिलमिला कर मौन बैठी अमिता, अनायास कह उठी—"लता जल्दी बात करो। अम्माजी लौट आईं तो·······।"

और लता को भी जैसे होश आया।

दिनेश पुनः बोला—"ऐसी भी क्या बात है ? बैठिये·······।"

तभी अक्षय ने उन पुलिस अधिकारियों सहित कमरे में प्रवेश किया। दिनेश उफन कर रह गया। लता और अमिता उलझकर रह गईं और अक्षय कमरे से होकर निकटवर्ती ड्राइंगरूम की ओर बढ़ गया।

दिनेस की आंखें लाल हो गई। दिनेश की आकृति का परिवर्तन लता से छिप न सका और वह यह कहकर उठ बैठी—"अच्छा हम चलते हैं।"

"बैठिये........।"

"नहीं अब हम जायेंगे, और सुनिये आपका यहां आकर यों ठहरना मेरी दृष्टि में बड़ा अनुचित है। आपको हम लोगों के पास नीचे ही ठहरना था," कहते-कहते लता ने अपने पग आगे बढ़ा दिये।

"ऐसी भी क्या बात है—आप यहीं आइयेगा।"

"मैं तो कदापि नहीं आऊँगी—न आ सकती हूँ—न आना चाहूँगी........," कहते-कहते लता ने कालीन छोड़ दिया। अमिता साथ हो ली। दिनेश क्रोधावेश किन्तु विवशता में सोफे से उठकर लता के सन्निकट आ खड़ा हुआ और बोला—"तब........।"

"आपको अम्माजी के पास आना होगा। अच्छा हम चलते हैं," कहकर अपनी गर्दन घुमाते हुए उसने एक स्थिर दृष्टि दिनेश पर फेंकी और कमरे से बाहर हो गई।

कड़कती आवाज़ में दिनेश ने अक्षय को पुकारा, "अक्षय....।"

अक्षय के सामने आते ही दिनेश ने प्रश्न किया—"यह सब क्या है?"

"मैं क्या जानूं? इन्होंने मुझे मजबूर कर दिया कि मुझसे व तुमसे दोनों से बड़ी गहरी बातें पूछनी हैं।"

"तो........।"

"वैसे तो उस वीरेन्द्र के बच्चे ने कह दिया है कि कत्ल उसने किया है।"

"तब ये लोग हमसे क्या चाहते हैं।" किंचित शान्त होकर अक्षय से दिनेश ने कान में कुछ कहा और चुपचाप पलंग पर जा लेटा।

जेबों की गरमी में खोज (इन्क्वायरी) के वे सिपाही खुश-मन नमस्कार-प्रणाम करते हुये बाहर हो गये।

"रामू सामान बांधो," अक्षय बोला।

दिनेश पलंग से उछल आया और अक्षय से बोला— "तुम अपना बेडिंग व ट्रङ्क इसी कमरे में रहने दो।"

७

"अरे, तुम—कैसे चले आये ?" स्वरूपरानी ने अनायास दिनेश को सामने देखकर कहा।

"अजी साहब, हाथ-पैरों से चले आये। अब सामान तो अन्दर रखाइये या यह कुली ऐसे ही खड़ा रहेगा।" कहते हुए शरारतभरी एक दृष्टि उसने सामने कुर्सी पर बैठी लता पर फेंकी।

दूसरे कमरे से आते ही द्वार पर अमिता ने देखा दिनेश सामान सहित वहीं आगया। और वह उलटे पैरों लौट गई।

दिनेश का सामान निकटवर्ती कमरे में पहुंचा दिया गया। स्वरूप-रानी ने हँसते हुए कहा—"अब खड़े कैसे हो। बैठो तो।"

कहकर स्वरूपरानी उसी प्रकार छोटी बच्ची को कपड़े पहनाती रही और दिनेश लता के निकट पड़ी दूसरी कुर्सी पर बैठ गया।

दिनेश की दृष्टि के बोझ से अकुला कर लता के नेत्र व ओठ दोनों ही मुस्करा दिये।

मुंह-हाथ धोओ," स्वरूपरानी ने चटाई पर से उठते-उठते कहा।

"स्टेशन से निवृत होकर आ रहा हूं," कहकर दिनेश ने पुनः लता की आकृति को झांका।

स्वरूपरानी के आदेश पर नौकर नाश्ते की प्लेटें ले आया और सामने मेज सरका कर उस पर रखता हुआ बोला—"वा बाबू, तू खूब आयो।"

लता हँस दी।

और दिनेश ने स्वरूपरानी से कहा—"आइये।"

"जैसे हम लोग अब तक नाश्ते के या तुम्हारे इन्तजार में बैठे हैं," स्वरूपरानी ने मुस्कराते हुये कहा।

"मेरा इंतजार.........," दिनेश दोहरा गया और तब लता से साथ बैठकर खाने का आग्रह करने लगा।

दिनेश के परिचय के पश्चात् वह पहला दिन था जब एक ही प्लेट में साथ खाने की कोई बात सामने आई। किन्तु परदेश में अपरिचित निकट आते चले जाते हैं फिर वह तो नैकट्य की गहराइयों में पैठने ही तो बम्बई आया था।

बड़ी कुलबुलाहट में, स्वरूपरानी के आदेश पर लता ने दिनेश की प्लेट से नमकीन काजू उठाकर टूंगे। तभी, तुरन्त उसने पुकारा—"अमिता।"

अमिता नहीं आई।

दिनेश ने कौतूहलपूर्ण मुद्रा प्रदर्शित करते हुए कहा—"अच्छा, अमिता भी है। बुलाओ, बुलाओ।"

और व्यक्ति के ये विभिन्न रूप हैं जिनके आवरण में वह अपने वैयक्तिक सुख-सन्तोष के आधार पर अवसर के अनुसार दूसरों के विश्वास की खिल्ली उड़ाकर गर्व का अनुभव करता है। दोष उसका है अथवा उस सामाजिक बन्धता का जिसे वही नहीं—प्रत्येक प्रतिपल अनेक दशाओं में तोड़-मरोड़ डालने को उत्कंठित रहता है। तो सामाजिक-पुरुष न समाज चाहता है न समाज से पृथक् ही रहना चाहता है—तो हो क्या ? कुछ नहीं। ऐसे से अन्तर्द्वन्द्व चलेंगे ही—अपने

विभिन्न रूपों में, आज या कभी भी, यहां या कहीं भी। किन्तु वैयक्तिक स्वार्थान्धता उसके दांत अवश्य टूटने चाहियें अन्यथा पुरुष-समाज—पशु-समाज के निकटवर्ती बना रहेगा—बन जायगा—बन रहा है। हम देखकर भी नहीं देखना चाहते—यह अवस्था हममें विद्यमान है—चारों ओर, केवल आंखें खोलने की ही आवश्यकता नहीं है, कुछ और भी आवश्यक है।

"तुम्हारे भइया तो चले गये," स्वरूपरानी ने वार्ता आरम्भ करते हुए कहा।

"कोई काम आ पड़ा क्या ?"

"तार आया था।"

"कब लौटेंगे ?"

"एक डेढ़ हफ्ता तो लगेगा ही। तब तक तुम्हें यहीं रहना पड़ेगा, हमारे पास। तुम्हारे साथ बम्बई घूमी जावेगी।" स्वरूपरानी ने अनुग्रह-भरे स्वर में कहा।

लता उठकर अमिता के पास चली गई।

अमिता एक पुस्तक में उलझी हुई थी।

दिनेश सोच रहा था—उसे चाहिये निर्द्वन्द्वता, निर्बन्धता, चिर-पिपासा में असीम सन्तोष। विवशता में उसे स्वरूपरानी तक आना पड़ा। किन्तु·········वह जो आया है अपने अनुराग की चाहना को लता के रूप-रस में डुबोने। तो कैसे क्या होगा ? और यह अमिता जो उखड़ी-उखड़ी हो रही है।

उस 'फ्लैट' में तीन कमरे थे। किनारे का कमरा सामान इत्यादि से भरा था। वहां दो नौकर रात्रि में सोते थे। बीच के कमरे में दिन में अंगीठियों पर चाय, काफी व दूध होता और रात्रि में बच्चे, लता, अमिता व स्वरूपरानी सोतीं। उसके निकट के कमरे में पुरुषों के सोने की व्यवस्था थी। आगे का ड्राइङ्गरूम कुर्सी-मेजों से घिरा हुआ था। दिनेश पुरुषों के सोने वाले कमरे में सोया। पास ही लता के चाचाजी सोये।

लता के चाचाजी विदेशों से इम्पोर्ट-एक्सपोर्ट का काम करते थे और किसी विशेष कार्यवश दो दिन पूर्व ही बम्बई आये थे। वे बहुत सुलझे हुये व्यक्ति थे और उनमें मान्यताओं के आधार पर भारतीय आदर्श व प्राचीन संस्कृति का पर्याप्त समावेश था। वे नैतिकता के प्रसंग पर कठिन से कठिन नियमों के समर्थक थे। स्त्रियों और लड़कियों की आधुनिकता व स्वतन्त्रता से उन्हें जन्म-जन्म का वैर था। दिन में अनेक बार वैसी ही ताड़ना वे लता के साथ-साथ अमिता को भी देते रहते। इस विषय को लेकर उनमें व अमिता में अनेक बार वाद-विवाद हो चुका था जिससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला था कि अमिता भली लड़की नहीं है और वे चाहते थे कि लता, अमिता से दूर रहे।

दिनेश के विषय में वे पर्याप्त जानते थे। उसका घर में आवागमन उन्हें किंचित न भाता था। अनेक बार, देहली में, किन्तु दबे स्वर में वे शान्तिस्वरूप व स्वरूपरानी से इस विषय में चर्चा करते हुए अनेक भावी शंकाओं की ओर संकेत दे चुके थे। किन्तु मन जब किसी की आस्था में डूब जाता है तो ठीक बात भी उपदेश-सी ही लगती है।

आज जब उन्होंने देखा कि शान्तिस्वरूप की अनुपस्थिति में ही दिनेश वहां आया है तो वे और कुढ़े। सर्वाधिक उत्तेजना उन्हें तब हुई जब उन्होंने देखा कि उनके निकटवर्ती पलंग पर ही दिनेश करवटें ले रहा है। उनके क्रोध की सीमा न रही। वे किसी से कुछ कह तो न सके किन्तु मन ही मन वे दिनेश के प्रति घृणा के भार से दबे पड़े रहे। उन्हें नींद नहीं आई।

अन्तर्मन में विषाद व आवेश की भावना बनाये रख कर भी ऊपर से अमिता को दिनेश से बोलना पड़ा। जब उसने देखा कि वह वहीं आ डटा है तो उसे विवश होकर उसकी छेड़छाड़ के बचाव में 'हां-हूं' से बात का जवाब देना ही पड़ा।

और नारी-स्वभाव—सुगमता से उसे मोहित जो किया जा सकता है। वह शीघ्र सहानुभूतिपूर्ण जो हो उठती है।

अमिता, दिनेश के अनुरोध, प्रार्थना और रोने-धोने से पिघल गई। उसने सहयोग का वचन दे दिया और कुछ तय होगया।

अमिता के साधन के द्वारा—अर्धरात्रि के पश्चात् लता से मिलन का कार्यक्रम स्थिर होगया। लता ने स्वीकृति दे दी। वह स्वयं बरबस भावी अतिरेक में बावली हो उठी थी।

और दिनेश, केवल समय की गहराई को समेटने में आतुर होकर किसी प्रकार लेटे रहने भर का आभारी बना रहा। वह प्रतीक्षा में था—कब चाचाजी सोवें और कब वह धीरे-से उठे—बाहर गैलरी में छिटकी चाँदनी के पीयूष को पीने में लता का सहयोगी बने।

दिनेश की गति-विधि से आज चाचाजी और अधिक सतर्क थे। वे निरन्तर दिनेश की करवटें गिनते रहे।

अनायास दीवार-घड़ी ने टनन् टन् करके बारह घंटे बजा दिये। वही जैसे संकेत-चिह्न था।

संसार निद्रा-निमग्न था। वातावरण मौन था। दिशायें सूनी थीं। लता—उसका मन व तन जागरण को लपेटे मिलन-वेला की प्रतीक्षा में छटपटा रहे थे। ओह ! कैसे होगा ? कैसे वह उठेगी ? कैसे एकान्त में वह किसी से—उससे मिलेगी ? यह नयापन—जीवन का टोना। और कोई देख लेगा तो। किन्तु नहीं ! उसने पलक मूंद लिये। सारी शंकाएँ झकझोरकर पलंग की पाटी पर दे मारी और मीठे सपनों में तैर गई—मिलेंगे तो कैसा लगेगा—कितना मिठास होगा, कैसा सुखद। किन्तु कैसा लगेगा ? इसकी कल्पना वह किस रूप में करे। वह कुछ जानती नहीं। वह तो एक सर्वथा नया-सा अनुभव है। किन्तु जब वह कल्पना में इतना मधुर है तो अवश्य आशातीत मधुमय होगा।

पास ही अमिता लेटी थी। उसने एक-दो बार लता को गुदगुदाया और उढ़ककर दूसरी ओर करवट ले ली। मन की गुदगुदी में तन की वह गुदगुदी और उत्तेजक हो उठी। लता अलस जागरण में चुप लेटी रही।

और टन्‌न्‌ टन्‌ बारह घंटे लता ने सुने। अमिता ने सुने। उस नि:शब्द व अन्धकारमय वातावरण में अमिता ने धीरे से कहा—"जाओ.........।"

"चुप....," सिमटकर अमिता से लता चिपट गई।

"चुप क्या? जाओ न," लता से अपने को छुटाते हुये अमिता ने कहा।

"पहले तुम जाकर देख आओ," लता ने तकिये में अपना सर दबाते हुये कहा।

अमिता उठी और कमरे के बाहर चली गई।

चाचाजी जाग ही रहे थे। दिनेश को, उस अर्धरात्रि में उन्होंने बाहर जाते देखा। उसके कमरे के बाहर हो जाने पर वे भी उठे। आहट पाकर दिनेश घूमा तो उसने देखा चाचाजी पीछे आ रहे हैं। किन्तु वह अविचल भाव से गैलरी में सामने बने 'बाथरूम' में घुस गया।

चाचाजी पलंग पर आ लेटे। दिनेश भी आकर पड़ रहा। संकेत से उसने अमिता से कहा कि थोड़ी देर बाद।

अमिता मन से चाह रही थी कि दिनेश का गला घोट दे किन्तु लता से उसने एक वचन जो दे रक्खा था।

और तब रात्रि के उस अन्धकार में, सुनसान से उस छायालोक में, समीर के तब उस शान्त डोलन में, छनकर, आते विद्युत-प्रकाश से उस झिलमिलाते प्रांगण में, तब प्राणों की उस—प्रथम धड़कन में, मन के उस अमित उद्वेलन में और तन के उस अकथ विलोड़न मे दो प्राण—दिनेश और लता—मिल ही तो गये।

वातावरण मौन था, दिशायें मौन थीं, तारकावलियां शून्य को झांक रही थीं, निरभ्र नीलाकाश की तारों-जड़ी-चाँदनी उत्सुकता में और श्वेत और धवल हो उठी थी, तभी दिनेश ने अपने थिरकते ओंठ लता के विनत कपोलों पर टिका दिये।

नशे में खोई लता, लज्जा में डूबी लता—शीघ्रता का दामन थाम कर लौट पड़ने को मचल उठी तभी दिनेश काँप गया। सामने उसे चाचाजी की छाया दीख पड़ी। लता सहम गई। सुख की उस सलोनी वेला में चाचाजी कैसे से लगे ?

और दिनेश, लता को, धीरे-से गैलरी से बाथरूम तक समेट लाया। वहाँ आकर वे दोनों अन्दर हो गये और दिनेश ने चटखनी बन्द कर ली। लता सुन्न हो रही थी।

चाचाजी सब जान गये। सब समझ गये। उनकी शंका स्पष्ट होगई। वे तिलमिला उठे। क्रोधावेश में उन्होंने सोती हुई स्वरूपरानी को झकझोर डाला और कमरे की 'लाइट' जलाने के साथ ही एक भीषण शोर करते हुये वे स्वरूपरानी को बाथरूम के सामने-लाकर खड़ा करते हुये बोले—"लो, देख लो।"

दूर खड़ी अमिता, थर्राई-सी, आँखें फाड़कर रह गई।

स्वरूपरानी ने धीरे से बाथरूम का द्वार थपथपाया। तभी वे चाचाजी से बोलीं—"आप कमरे में जाइये।"

लता—जैसे उसके शरीर का रक्तचाप मिट गया हो, जैसे उसके मन-प्राण विलीन हो गये हों, जैसे उसके शरीर का भार दबा का दबा रह गया हो, जैसे मृत्युदण्ड प्राप्त अपराधी की कोठरी अन्त के क्षणों में खोली जाने को हो, जैसे क्या होगया और तब दिनेश ने लता को ढाढ़स देते हुये कहा—"घबड़ाने की क्या बात है ?"

लता ने एकाएक दिनेश का हाथ थाम लिया।

द्वार पर दुबारा थाप पड़ी और लता ने आगे बढ़कर द्वार खोल दिया। वह बाथरूम के बाहर आई और भूमि पर गड़ी-सी, चुपचाप कमरे में चली गई। न लता ने स्वरूपरानी को ही देखा न स्वरूपरानी न ही लता को देखकर देख पाया।

स्वरूपरानी की प्रतीक्षा उस क्षण बाथरूम से निकलने वाले दूसरे प्राणी पर टिकी हुई थी, उनकी दृष्टि दूसरे की खोज में अटकी हुई थी

तभी थिरकता-सा दिनेश, दबे पांव, आँखों में शरारत का झीना परदा लपेटे बाहर निकल आया।

अपराधी की दशा दण्ड पाने के समय उतनी नहीं बिगड़ती जितनी अपराध प्रकट होने के क्षणों में। तब दिनेश अपराधी भी था, ऐसा वह कभी नहीं मानता। कोई नहीं मानता। वह स्वाभाविक है, प्राकृतिक है, मन की चेतना है, पुकार है। वह एक ऐसी स्थिति है जो मानव को स्वतः जड़ मानकर उसे चेतना देती है और उसी अदृश्य शक्ति के सहारे वह कहीं भी खिचा चला जाता है। ऐसी-सी मान्यता में दिनेश स्वरूप-रानी के समक्ष, निर्भीक-सा, प्रकट हुआ।

स्वरूपरानी ने कुछ कहा नहीं। बस वे उलटे पैर अपने बिस्तर पर लौट आई। वे बड़ी अधीर व अस्त-व्यस्त थीं। उनकी किसी समय की भ्रान्ति आज उलटी सिद्ध होगई। यही उनकी खिन्नता का विशेष कारण था। मानव बड़ा स्वार्थी होता है, न। वे दिनेश के प्रति आस्था रखती थीं, उसे दुलराती थीं। वे सदैव सोचती रहीं कि अमिता पर दिनेश का मन आश्रित है और उस क्षण उनका एक बड़ा विश्वास टूट गया। अमिता के स्थान पर अपनी बेटी लता को देखकर जैसे उनके ऊपर आसमान फट गया। अमिता तो उनकी लड़की नहीं थी, न। तभी उन्हें उसकी उतनी चिन्ता भी नहीं थी।

जो हो, आस्था की जकड़न में वे उस क्षण भी सोच गई—"दिनेश का मन व स्थिति कैसी होगी?"

दिनेश—कहीं न लेटकर अक्षय की ओर चल दिया।

× × × ×

आज का सवेरा बड़ा अजीब-सा लग रहा था। जैसे गत-रात्रि एक भयानक तूफान आया हो और तब उसके शान्त होते होते, सुबह एक सूनी उदासी छा रही हो।

लज्जा में आरक्त लता के मुखमण्डल की गुलाबी उदासी भी कुमुद के सफेद फूलों-सी ताजी लग रही थी किन्तु चंचलता की सुवास जैसे मन्द तथा विलीन होगई थी।

अमिता तूफान के साथ आई वर्षा की भांति रो लेना चाहती थी।

स्वरूपरानी का मन किसी से बात करने का नहीं था। छोटे बच्चे आयें, इठलाकर चले गये, उन्होंने नहीं सम्भाला। बैरा कुछ बात करने आया तो नौकर ने संकेत से उसे लौटा दिया।

सर्वाधिक उद्वेलन, तूफान के साथ आई धूल की लिपटन, आवेश का तीखापन, क्रोध की अस्थिरता चाचाजी में थी। उन्होंने देखा स्वरूपरानी कुछ न कर सकीं। और तो और उस सब में वे स्वयं ही हतबुद्धि से निरीह-प्राणी की भांति बने रहे, उन्होंने ही क्या किया? और यही उनके क्लेश का बड़ा कारण था। वैसी परिस्थिति में वे क्या करते? कोई क्या करता? क्या कर सकता था? स्वरूपरानी ठीक थीं या गलत। कौन ठीक था या गलत—चाचाजी कुछ भी न सोच पाये। एक तिलमिलाहट थी जो रह-रहकर उन्हें करोंच रही थी और तभी उन्होंने शान्तिस्वरूप को एक बड़ा-सा पत्र लिख भेजा।

८

भोग विक्रिया और वितृष्णा को जन्म देता है। वह सदा अशान्त, अतृप्त और व्यथित है। साथ ही वह घृणा को जन्म देता है, उसका परम पोषक है।'

अमिता ने चाहा कि पुस्तक के इस पृष्ठ के या तो बड़े-बड़े पोस्टर बनवाकर इस होटल की प्रत्येक दीवार पर चिपकवा दे या इन पन्नों को फाड़कर आग में झोंक दे। एक दो पैराग्राफ बाद वह देख गई।

'संभोग में व्यक्ति की अहंता की हार है। आदमी को उस क्षण सुध-बुध नहीं रहती, अपनापन वह भूल जाता है। कह सकते हैं कि तब वह स्वयं नहीं है, प्रकृति के हाथ का एक यन्त्र है। एक तरह वह निःस्व हो जाता है.........

तो वह किससे चिपट कर रो ले—तो वह किस कोने में चीख उठे, कैसे और कहां वह विक्षिप्त का-सा अट्टहास करके मिट जाय विलीन हो जाय जिसमें से निकल पड़े, ज्वालामुखी कैसे शोले—अंगारे और एक हलचल—एक तीव्र कंपन से वह अपने संसार को ध्वस्त करदे और तब मिटकर मौन हो जाय।

वर्मा से उसके सम्बन्ध कैसे हैं ? वह—वह बेचारा, आज मुझको उसपर कैसी-सी दया आती चली जा रही है। कैसा अन्याय—कैसा-सा

अनधिकार, अप पौन का—कैसा दम्भ—यौवन और नारी-रूप की कैसी-सी अविश्वसनीय गति और चेतना—जहाँ वर्षों से एक—विश्वास, श्रद्धा और स्नेह की ज्योति में जैसे पतंगे से भी न्यून स्थिति में है; कभी प्रतिदान की उसने चाहना नहीं की कभी……और वह निरन्तर आकर्षणों में, उलझनों में, अनाचारों में ही—जिद करके घिरी रही। माना कि 'आत्म-विश्वास' की प्रवंचना में वह पुरुषों की भीड़ लगाये रही किन्तु 'शैतान' का दम्भ कोई अस्तित्व तो है ही, न। शैतान की कोई-सी भी संज्ञा हो—वह कहीं किसी स्थिति में तो है, ना उसका कोई समय तो निश्चित नहीं था, न—जन्मपत्र में। और वह आया तब क्या उससे रुका—और वह चीख कर, तड़प कर—मिट कर जो रह गई। तो क्या हो ? वह क्या करे—मिट जाय, आत्मघात कर ले या यों ही बेशर्म—अब भी सबके सामने वैसे ही मुँह उठाये, हँसती-इठलाती मौज मारती फिरे। मौज—उसकी जुगुप्सा में ही आज दावानल—ज्वालामुखी के मुख पर वह आ खड़ी हुई है—उसे मिटना या मिटाना है……

और उसके नेत्रों में अन्धकार तैर गया। उसने कसकर मुट्ठी भींच ली, उसके नेत्र अनायास मुँद गये और वह गिरते-गिरते संभलकर कुर्सी का हत्था थामे बैठी रही। 'काम, प्रेम और परिवार' उसके हाथ में थी और सामने लता उसके कन्धे पर हाथ थपथपा रही थी—"अमिता, अमिता क्या हुआ ? क्या हो रहा है तुम्हें ? सम्भल कर बैठो न।"

और अमिता जैसे मन:स्थिति के भयंकर ज्वार से भाग कर लता से भागकर लता से अनायास चिपट गई। लता सामने खड़ी सोच गई—क्या हो गया अमिता को ? दो चार दिन पहले की उत्तेजना। हास्य, निर्बन्धता, उछल-कूद यकायक कहाँ विलीन हो गई, इसकी ? क्या बात हुई है ? और वह तभी कुछ-कुछ सोचने लगी—सोचती गई—दिनेश से कोई बात……वैसी बात समझ में नहीं आती……अमिता से उसका अनुराग—विराग कैसा ?

ग्रौर तब वह सामने कुर्सी पर बैठी ग्रमिता के कन्धों को थपथपाते हुये बोली—"ग्रमिता, उसमें तुम्हारा क्या दोष है ?"

ग्रमिता ने छिटक कर ग्रपने को ग्रलग किया ग्रौर ग्रपने दोनों हाथों मे लता की बाहें थामे-थामे लता के नेत्रों में निर्निमेष झांकते हुये पुकारा—"लता""।"

"उदासी तुमसे ग्रधिक मुझे है। कितना क्षोभ हो रहा है, मुझे। उसमें तुम क्या करतीं—मैं क्या करती ? ऐसे में सुध-बुध खो जो जाती है—पर क्यों ? ग्रादमी को सतर्कता बरतनी चाहिये। सीमाग्रों में कसे रहना चाहिये""।"

"लता""।" ग्रमिता के ग्रश्रु-विगलित नेत्र जलधार बह चले ग्रौर वह फफक कर लता की गोद में पुनः सर को दाबने लगी।

ग्रौर लता भी सजल नेत्रों में कुछ कहती चली गई। ग्रमिता क्या सोच रही थी—लता क्या कह रही थी ? दोनों ग्रपनी-ग्रपनी बात समझ रही थीं—कह रही थीं, कहना चाहती थीं, ग्रौर लता कहने लगी—"दोष मेरा है। मैं ग्रपने मन को क्यों न रोक पाई ? क्यों मैं उससे मिलने गई थी ? तुम्हें तो मेरे ही कारणक्लेश हुग्रा न। तुम तो मेरी ही भलाई में मारी गईं, ग्रम्माजी तुम पर मेरे ही कारण बिगड़ीं, न। किन्तु ग्रम्माजी को देखो—उन्होंने एक शब्द न मुझसे कहा न उन देवता जी से। उलटे ग्रभी-ग्रभी उनके नौकर से पूंछ रही थीं—'तुम्हारे बाबू रात से कहाँ गये हैं ? जाग्रो उन्हें कहीं से लिवाकर लाग्रो। कहना बहूजी ने बुलाया है।'""तो ग्रम्माजी क्यों बुला रही हैं ? वे कभी कुछ कह तो सकती नहीं। तुम पर न जाने क्यों बिगड़ गईं ? ग्रौर चाचाजी—उन्होंने देखो न, कैसा तूफान मचा रखा है, घर में""।"

ग्रमिता शून्य में दृष्टि गड़ाये नेत्रों से ग्रविरल ग्रश्रुधार गिराती कुर्सी पर बैठी रही। लता कुछ देर यों ही उसमें सिमटी खड़ी रही ग्रौर तब धीरे से उसकी पीठ थपथपाती हुई चली गई।

रामू ग्रनुमान लगाता हुग्रा ऊपर कमरे में गया। बिस्तर पर

दिनेश को कुछ गुनगुनाते सुना और सामने जा खड़ा हुआ। रामू को सामने देखकर दिनेश चौंका और पूछ बैठा—क्यों ?"

"बहूजी ने बुलाया है। आप रात में नीचे नहीं सोया''''?"

"क्या कहा है ?" दिनेश ने उठकर बैठते हुये प्रश्न किया।

"अपने बाबू को ढूंढकर लिवा लाओ," कहते हुये रामू ने दिनेश के संकेत पर सामने की मेज से गिलास और वो''''उठा दी।

दिनेश को शुरू में नींद तो कम आई। वैसे प्रातःकाल से कुछ पूर्व—लगभग दो घंटे वह सो लिया किन्तु मानसिक उथल-पुथल में उसकी नींद उचट गई और तब से वह मिलने के अतिरेक और सुखानुभूति की ऊषा-सी लालिमा में डूब-उतरा रहा था। भले ही उसकी लालिमा का अनुभव ऊषा-सा पवित्र, जागरूक और अप्रतिभ न हो !

वस्तुतः मिलन-काल की उस अप्रत्याशित घटना पर उसे किंचित भी क्षोभ न था। मानापमान के बड़े कड़वे-मीठे घूंट, मदिरा से कहीं बढ़कर कसैले-विषैले, पीने का वह आदी था। रूप और वासना की अठखेलियों को पैसे से क्रय करने वाले दिनेश को वह कुछ विचित्र-सा अनुभव न था। बाजारू रंगीनियों का व वहां के ताण्डव का भी उसे यथेष्ट ज्ञान था ; अतः वह क्षुब्ध था तो केवल इस बात से कि पहला "हिट" ही 'आउट' हो गया। और यह कि उससे कहीं मामला 'फिस्क' न हो जाय। हां, कभी-कभी वह यह भी सोच ही जाता कि व्यर्थ ही उस सलोनी—भली व भोली सूरत को—उसके कारण गाली-गलोच मिल रहा होगा। तब वह आत्मतोष में स्थिर हो ही लेता कि उसके कारण क्यों ? क्या उसे आनन्द नहीं मिला। यह तो आपस का आदान-प्रदान है। उस 'सेक्स' को क्या कम''''''''''''

और वह गुनगुनाने लगा—

हो तो लेने दो, ऐ साक़ी,
दूर, प्रथम संकोचों का.

बहुतेरे......................

बहुतेरे—इनका ऽ ऽ र करेगा,
सा ऽ ऽ ऽ की ऽ आने से पहले ऽ :

और जब रामू ने आकर कहा—"बहूजी ने बुलाया है।" तो वह चौंका। उसका जाना उचित नहीं। कौन ऐसा होगा जो उस घटना के बाद कस कर बिगड़े नहीं, डपटे नहीं ? और चाचाजी, कहो मार ही बैठें। वह कदापि न जावेगा।

किन्तु........दोष मेरा क्या है ? दोषी केवल मैं ही क्यों हूं ? पकड़ में केवल मैं ही तो नहीं आया हूँ। और दूसरों पर जो बीतेगी वही मुझ पर भी सही। न जाना ठीक न होगा। अधिक से अधिक उफान उफन कर जब ठण्डा होगा तो शान्त वातावरण में आगे गतिविधि तो, कुछ न कुछ निर्धारित होगी और वह अनायास उठकर चल दिया।

दिनेश जब नीचे आया और स्वरूपरानी के समक्ष पहुंचा तो उसने देखा सभी कहीं जाने की तैयारी में खड़े हैं।

गर्दन लटका कर बड़ी उदास सी मुद्रा में दिनेश यों ही कुछ मिनट खड़ा रहा। तभी स्वरूपरानी ने कहा—"कैसे हो रहे हो ? चलो, साथ चलो, घूमने चल रहे हैं।

और दिनेश प्रत्युत्तर में बिलख कर रो पड़ा। सिसकियों की उस हुंकार में स्वरूपरानी आगे बढ़कर—द्रवित भाव से, दिनेश के बालों पर हाथ फेरने लगीं। दिनेश, जैसे लड़खड़ाता-सा पीछे हटा और कोने में पड़ी कुर्सी पर बैठ गया। स्वरूपरानी उसे संभालती हुई—आगे बढ़ आईं। दिनेश कुर्सी पर बैठा व स्वरूपरानी खड़ी थीं। दिनेश ने अपना मुंह उनकी ''''''जांघों में छिपा लिया और पीछे हाथ फैला कर उन्हें अपनी ओर दाबे बैठा रहा। कभी वह अपने सर को इधर और कभी उधर''''''''या कभी जल्दी-जल्दी दोनों ओर घुमाकर—रगड़-सी उत्पन्न करता रहा।

वह एक अभिनय था, क्षमा याचना थी अथवा भावी गति-विधियों की पृष्ठ-भूमि, दिनेश भली प्रकार जानता था।

और अभी-अभी ऊपर से 'दो पैग' के बराबर मात्रा का गिलास भर कर वह नीचे उतरा था। और उसे.........

लगते सब एक समान.........

उसके समक्ष नारी के सब तत्व बराबर जो हैं। उसके वासनारूपी कोड़े के समक्ष सब शरीर नग्न, जैसे नारी का उभरा-दबा मांसल रूप ही शारीरिक उपभोग का चिरन्तन सत्य। और वह रह-रह कर स्वरूप-रानी को भींचता। स्वरूपरानी सरल भाव में उसकी सिसकियों को सहलाती रहीं और वह सर और मुंह से.........उनके मांसल भाग को दाबता रहा।

और दिनेश की वासना का जागरूक शैतान कभी दब कर सांस लेना नहीं जानता था। वह सदैव क्रियाशील, गतिशील जो रहता था। और दिनेश के समक्ष.........स्वरूपरानी का शरीर भी ठोस कुंदन सा था। उनके कपोलों की रक्तिमा के आकर्षण को भी.........वह कनखियों से देखा करता था, न। स्वरूपरानी के शरीर की प्राकृतिक गठन में—प्रसव की पुनरावृत्तियों के विपरीत भी.........यौवन की पर्याप्त से अधिक मात्रा शेष थी और उनकी त्वचा का गोरापन.........

तभी स्वरूपरानी ने उसके कंधे थपथपाते हुए कहा— "चलो उठो। मैं तो कुछ नही कह रही हूँ। उस बात का जिक्र ही क्या ? चलो उठो"।

और दिनेश ने आशंकाओं का पहाड़-आंसुओं में बहा डाला।

सामने लता.........द्रवित-सी, आसक्त-सी, समर्पित-सी, खड़ी थी व सहानुभूति में.........अम्मा जी के स्थान पर स्वयं आकर लिपट जाना चाहती थी किन्तु व्यवहार का संयम—उसमें पर्याप्त था।

लता के निकट ही घूमने जाने की तैयारी में, पीली आकृति में उदास अमिता खड़े-खड़े दिनेश का कौतुक-क्रंदन देख रही थी। उसके

मन के भाव—तिरस्कार की पर्याप्त मात्रा को—आकृति में परिलक्षित कर रहे थे और तभी लाल आंखों में—स्वरूपरानी के वस्त्रों में देर तक दबे रहकर उभरा सा—भरा सा—लाल सा चेहरा बाहर करते हुए दिनेश एक वार अपने चारों ओर देख गया। लता व अमिता की धुंधली सी आकृति.........काली पुतलियों के आगे छाये आंसुओं की तिलमिलाहट में दिखी और स्वरूपरानी हट आईं। वह उठा और बगल के कमरे में कपड़े बदलने चला गया। उसका सूटकेस वहीं रक्खा था किन्तु इस क्षण चाचा जी वहां नहीं थे।

दिनेश को लेकर सभी चले आये "हैंगिंग-गार्डेन"।

इस समय सब हँस-बोल रहे थे। सबके मन खिले-खिले व चेहरे उभरे उभरे थे। अमिता के मन की टीस भी—वार्तालाप की सरसता व हास्य में अनेक बार दब कर भी दबी पड़ी थी।

और "हैंडिंग-गार्डेन"—हरीतिमा, प्राकृतिक सजीवता व फैलाव का वह सरस-सुखद वातावरण—रंगबिरंगे फूलों की वे सलोनी तितलियां, ऊपर उड़ते भरमाते भ्रमर, झुरमुटों के घेरे में जहां प्रकृति अपनी अठखेलियां करती हैं—जहां सुबह—शाम का प्राकृतिक मिलन—प्रतिदिवस होता है—जहां गुंजन की मूक ध्वनियां लहरा कर वृक्षों-पेड़ों को बरबस इतरा देती हैं, जहां नर्तन के सुललित पग-चाप पाकर प्रकृति-नटी झूम-झूम जाती है—खिल-खिल उठती है। जहां पराग-सर्वत्र ऐसे छाया दीखता है जैसे मानव पर छाया निरभ्र नीलाकाश।

और हरी घास के तल-ऊपर बने कई गोल-चौकोर 'लान', उनकी सीढ़ियों पर इतरा कर उतरती प्रकृति से भी सुन्दर रूपसियां—प्रकृति से भी सुन्दर, इठलाते, उछलते कूदते, सलोने, भोले नन्हें-मुन्ने बालक, प्रकृति से भी सुदृढ़, कठोर, भयंकर, चेतन-अचेतन पुरुष.........

इस सबका मिला-जुला वातावरण, मस्ती में झूमती टोलियां, उभरती नवेलियों की इतराती सी किलकती सी तस्वीरें।

और 'हैंगिंग-गार्डन' का वह विस्तार''''मनोरंजन और आनन्द के लिये—माली की करामात से बनी झाड़ियां, पेड़ों, पत्तियों और दूब पर काट कर बनाई अनेक कृतियाँ—वे मोर, हिरन, खरगोस, बत्तखें इत्यादि।

और खिलखिला कर, भाग कर, मदमाते आते हुये प्रिय या प्रेयसि के स्वागत में बनाये गये हरीतिमा—के द्वार—उनपर झूम कर पड़ते गहरे लाल-नीले फूलों के गुच्छे बरबस—उन कपोलों उन ओठों को ज्यों चूमने को—आतुर—प्रतीक्षा कर रहे हों।

उस किलक में जब माथे और कपोलों पर पड़ी अलकों के साथ—पास से निकल जाने पर बरबस झुककर आ जाता हो कोई फूल या वृक्ष की कोई हरीतिमा—भरी—लाल—कोपल—किसी अप्सरा-सी सुन्दर प्रतिमा पर।

वहीं आ बैठा 'रोमैन्टिसिज्म' में 'रोमांस' भरा यह दल—लता, अमिता, दिनेश और स्वरूपरानी सहित छोटे बड़े चार-पाँच बालकों सहित।

पुलकित से—ये सब—देर तक वहां विभिन्न वार्ता करते, घास पर लेटे-बैठे; जमे रहे।

आज दिनेश—बहुत सीमित बना रहा। वह निरन्तर स्वरूपरानी से ही वार्तालाप करता रहा। लता निरन्तर अमिता से बातें करती रही। बालक नौकरों के साथ इधर-उधर घूमते फिरते रहे।

और वहीं छिड़ गई लता व अमिता में वार्तालाप की लड़ाइयां। कभी अमिता लता की बात काटती तो कभी लता अमिता की। और चर्चा का विषय जो सदैव रहता है तुरन्त के आकर्षण का प्रसंग। जो वर्तमान में चल रहा हो—जो भावी के द्वार खोलने को प्रस्तुत हो—वही प्रसंग बौद्धिक तत्वों को कुरेदता, मांजता व निखारता है। तभी कभी मानसिक द्वन्द्व अथवा मानसिक विवेचन की घुमेड़ से निकल आता है नवनीत; अनेक बार गरल भी।

दूब के एक टुकड़े को मुंह में चबाते हुये लता कह गई—"अमिता तुम तो इन बातों में बहुत पढ़ चुकी हो—यह आँखों के सामने आने भर से मन में कैसी-सी हलचल मच उठती है ?"

लता लेटी थी व अमिता की दृष्टि लता की भाँति नभ के उड़ते परिन्दों पर न टिके होकर दिनेश पर टिकी थी जो उस क्षण स्वरूपरानी के जूड़े पर कई सफेद व लाल फूल लाकर खोंस रहा था और स्वरूप-रानी—मौन-स्वीकृति में, बिना दर्पण के ही, पुष्प-गुच्छों से भरे जूड़े के सौन्दर्य की कल्पना में खिलखिला रही थीं।

उस क्षण दिनेश को स्वरूपरानी भी परम-सुन्दरी प्रतीत हो रही थीं। दिनेश तो मानता है न कि सौन्दर्य तन का—मन का ही धन तो है।

थोड़ी-थोड़ी देर में वह कनखियों से लता को भी निहार लेता किन्तु उस संध्या के बाद की अमिता की उदासी—उसकी समझ के घेरे के बाहर पड़ी, तड़प रही थी।

तभी अमिता ने साधारण रूप से लता की बात का उत्तर देते हुये कह दिया—"रेडियो-एक्टीविटी।"

" 'रेडियो-एक्टीविटी'—क्या ? लोग कुछ गाने-बजाने तो लगते नहीं हैं। ऐसे में तो और गुम-सुम''''।"

"तो तू कर चुकी 'रोमांस'। अरे मूर्ख—कल, मिलकर मन को जो शीतलता मिली, वही चाह रहती है कि नहीं—हर समय, बोल।"

"शीतलता", कल से तो जैसे उत्तेजना''''और बढ़ गई हो।"

"तो तू अब मरी। इतने तूफान के बाद भी अगर उत्तेजना बनी है तो बस तुझे पार लगावन हार—बस वही है—जो सामने बैठा—अम्माजी से इठला रहा है।"

और लता घास पर उलट कर पेट व सीने के बल गर्दन उठाकर सामने देखने लगी। सामने से आते दृष्टिपात की घुमेड़ में उसका मन धड़क उठा। उसके नेत्र सामने के नेत्रों को पीकर लौटे—फिर घूमे—फिर लौटे और तब एक मुस्कान के साथ लता पुनः घूमकर लेट रही।

इस अतिरेक के रोमांच में भी लता वह सब कुछ बहुत कुछ जानना चाहती थी—जो सम्बन्धों की गूंज में आते हुए अनुराग की विलोड़न में मन को घोट रहा था—उबाल रहा था।

इस क्षण अमिता भी लता की ही भाँति घास पर निकट ही लेट गई और अपना बायाँ हाथ लता के वक्ष पर टिकाते हुये वह कह गई—"लता, अब कोई चाह कर भी तुम्हें रोक नहीं सकता अन्यथा.... ।"

"अन्यथा क्या ?" कहते हुये लता भी करवट लेकर अमिता से चिपट गई।

धूप की चाँदनी—उन दोनों पर छाई हुई थी। ये लोग मेंहदी के ऊँचे पेड़ों के झुरमुट में एक ओर को बैठे थे। घूमने वालों के अन्य दल कुछ दूर से—देखते हुए निकल जाते।

तभी अमिता बोली—"अन्यथा यही कि एक बात की गाँठ बाँध लो। प्रेम—के यौगिक रूप में ही उपासना करना। प्रेम का भोग कर गईं तो मर जाओगी—मिट जाओगी। फिसलन में मर कर भी जीती रहोगी पर मरने से भी बुरी हालत में।"

लता जैसे न चाह कर भी बात का विरोध करने को उफन पड़ी—"मैं नहीं मानती। भोग का यह वश ही नहीं कि वह योग पैदा न करे—भोग में से एक दिन योग निकलने ही वाला है। ....हमें योग के प्रति सहिष्णु और सहानुभूतिशील होना चाहिये।"

"लता....लता, तुम कह रही हो ?"

"हाँ, जो पुस्तक मैंने तुम्हें कल दी थी—उसे चाट तो रही हो पर पढ़ा क्या ?"

"ऐसी घृणा उपजेगी कि.... ।"

"जब आधार में प्रेम होगा तो....तो हम इन सब उलझनों से ऊपर बने रहेंगे।"

"हाँ, यदि दोनों—परस्पर एक प्रकृति के हों। यदि दूसरा—विलास की, वासना की चरम अधोगति पर हुआ तो।"

"तो मैं निभा लूंगी।"

"इसी में मर मिटोगी, मेरी तरह," और अमिता ने एक गहरी सांस भर ली।

"अमिता, मन—मन की मांग करता है और तन—तन की। मैं मन की चाह में तन को आने ही कब दूंगी ?"

"क्यों, कल जो बायां गाल—रह-रहकर''''और जब आलिंगन की वह कसन उभर आई थी तब''''।"

लता मौन हो गई। वह सचमुच कुछ सोचकर विचारों की तन्द्रा में डूब गई और तब अमिता कह उठी—"अरे भोली—प्रेम—इन नीच, पापी, लोलुप और''''और जूठन चाटने वाले—उस सामने वाले जैसे कामी, कलुषित और निर्लज्ज—लोगों से प्रेम—की कामना ?"

लता जैसे तड़प उठी। क्या होगया अमिता को ? वह सोच गई अवश्य कुछ बुराई आई है अमिता में—उसके प्रति, और वह कहने लगी—"क्या बात होगई जो तुम उसपर ही इतना बिगड़ रही हो ? अभी उसे जाने, तुम्हें, हुये ही कितने दिन हैं जो उसपर इतनी तेजी दिखा रही हो। क्या कुछ शैतानी या छेड़खानी कर दी उसने ? या मना कर दिया ?"

"लता''''।"

"तुमने तो मुझसे वादा किया था कि तुम मेरा-उसका प्यार करा कर ही रहोगी।"

"लता, बहुत बुरा हुआ। तुम ऐसे चंगुल में—अनजाने फँस गई, बहुत बुरा हुआ। यह सब पाप मेरा है। मैं सोच रही हूँ—जिस अशान्ति को मैंने इन दस-पांच दिनों में ही—अपने को बेचकर मोल लिया है उससे जीवन भर मैं तड़पती रहूँगी—ऐसा होना ही चाहिये। ऐसा होगा ही," और अमिता उठकर बैठ गई। अपनी साड़ी और बालों को ठीक करते हुए उसने लता से कहा—"लता, चलो। घर चलो।"

अमिता को देखकर—उसकी बातें सुनकर लता हैरान थी। उसके इस अनायास भाव-परिवर्तन पर वह नाना प्रकार की धारणायें बनाने लगी।

वातावरण में एक खलबली मची।

दिनेश के अनुरोध पर भी—इसके अनन्तर वहां कोई रुका नहीं।

होटल आने पर अमिता को अपने पिताजी का तार मिला जिसमें मां की तबीयत खराब लिखी थी और उसे तुरन्त बुलाया गया था।

लता मसोस कर रह गई। अमिता के जाने की बात सामने आने पर लता को लगा जैसे कहीं उसके चले जाने पर उसके नव-पल्लवित अनुराग पर कोई बाधा न आ जाय। वह सोच रही थी—मन का स्वार्थ था, अमिता के रहने पर उसे बड़ा सहारा था। आगे भी बड़ा काम बनता।

किन्तु अमिता रात की गाड़ी से चली गई।

जाते समय दिनेश ने उसे स्टेशन पहुंचा आने की बात कही जिसको उसने मना कर दिया और वह जीवन का एक भीषण विषाद तन-मन में दाबे दिनेश से ओझल हो गई।

———

६

दिनेश लता में झूम गया और लता दिनेश में डूब गई।

मिलन-व्यापार के उन मधुरिम-क्षणों में होटल के नीचे-ऊपर के कमरों में—दीवारें नाच उठीं। स्वरूपरानी की, अनदेखी व उदार छूट ने, अनुराग को खुल खेलने का समुचित अवसर दे डाला और अब अपरिचित नहीं—युगल-प्रेमियों की स्नेह-ग्रन्थि कसती चली गई।

केलि-रत दिनेश व लता के आनन्दातिरेक में—तभी एक व्याघात उपस्थित हुआ।

चाचा जी कुढ़ रहे थे। वे अपने हाथ से दिनेश को पीट कर भगा देने की तबियत रखकर भी स्वरूपरानी के कारण मौन थे। स्वरूपरानी उन्हें समझा कर उनके जलते उफान पर छींटे मार देती थीं। और.... चाचाजी अपनी काम-लीलाओं में, सोच समझकर हठात् चुप हो जाते।

और....शान्तिस्वरूप लता के चाचा जी के सगे बड़े भाई थे। स्वरूपरानी उनकी द्वितीय पत्नी होते हुये भी चाचा जी को—या चाचाजी स्वरूपरानी के लिये—मातृ-पुत्र वत् किंचित नहीं, कभी नहीं, कदापि नहीं। भारतीय नैतिकता का आदर्श चाचा जी को अपने लिये नहीं लता को समझाने के लिये था तभी लता या वातावरण पर उसका प्रभाव—न्यूनतम से भी कम था।

जब दिनेश, इतने निकट आ ही गया तो लता ने एक दिन उससे बता ही तो दिया—"शादी के, पहले चाचाजी व अम्माजी को लेकर बड़े तमाशे बन चुके थे। लेकिन कारण कुछ ऐसे बने कि अम्माजी की शादी पिताजी से हो गई। लोग कहते अब भी बहुत कुछ हैं—घर वाले भी, किन्तु कभी कोई बात सामने नहीं आई है........।"

और अपने इतरा पड़ने पर जब लड़के-लड़कियां—माता-पिता के गुण-दोषों पर भी आस्था की दृष्टि रखते हैं। और उनके मुंह भी दबे-उभरे खुल जाते हैं।

सचमुच एक दिन—लता व दिनेश जब बाहर से घूम कर आये तो स्वरूपरानी व चाचाजी को उन्होंने चिन्त्य स्थिति में पाया। लाज में ये दोनों तो ड्राइङ्गरूम की ओर चले गये और स्वरूपरानी जब व्यवस्थित होकर, बीच के कमरे में आईं तो उन्होंने देखा कि नौकर एक ट्रङ्क व नया बेडिंग कमरे में लेकर घुस रहा है।

और लता व स्वरूपरानी दोनों ही सहम कर रह गईं जब उन्होंने सुना कि—"बाबाजी, आ गये।"

चाचाजी के दो पत्रों ने दो काम किये। उन्होंने शान्तिस्वरूप को जो पत्र लिखा था उसके आधार पर उनके स्थान पर उनके पिता बम्बई चले आये क्योंकि शान्तिस्वरूप स्वयं किसी आवश्यक कार्य के बहाने कहीं आनन्द मनाने बाहर गये हुये थे और जब कमलस्वरूप ने अपने छोटे पुत्र रामस्वरूप का पत्र पढ़ा तो उनकी नसों का रक्त खौलने लगा और वे उसी आवेश में चल पड़े।

दूसरा पत्र रामस्वरूप ने अमिता के पिता को ग्वालियर भेजा था। उसी आधार पर उनका तार आया और अमिता को वे ट्रेन पर बैठा आये।

रामस्वरूप का प्रणय-व्यापार तो भरे-पुरे घर में ही अबाध-रूप

से चल रहा था अतः उनको तो पिता के आने पर कोई उलझन न हुई किन्तु लता चीख कर रह गई।

उसकी स्वतन्त्रता छिन गई। बम्बई की घुमाइयां बन्द हो गईं, और वह जैसे पिजड़े में बन्द हो गई।

किन्तु परिस्थितियां व्यवस्थाओं को भी जमा देती हैं।

लता को नीचे के फ्लैट पर वह स्वतन्त्रता कहां मिल पाती थी जो 'बाबाजी' के आने पर दिनेश के आवागमन पर लगे प्रतिबन्ध के कारण उसे ऊपर के कमरे में मिलने लगीं।

अब यह बात भी विदित हो थी कि दिनेश ऊपर ही रह रहा है। उसका बेडिंग व ट्रङ्क भी ऊपर ही लौट गया था।

और अब—प्रणय-प्रसार में लता की सीमायें खुल चुकी थीं। उसकी वह दृढ़ता, विचारों की गहराइयां, व्यवहारों की मान्यतायें, अपने को सर्वथा अछूता रखने की आस्थायें टूक-टूक हो चुकी थीं, न; और तभी उसके पैर भी खुले। तन-मन भी खुले।

और वह चुपचाप—अवसर पाकर, दिन में एक-दो बार दिनेश के कमरे में जाकर सीत्कार का मधुमय स्वाद चख आती। किन्तु एक स्थिति में वह अविचल थी, सुमेरु की भांति दृढ़—और वह थी शारीरिक पवित्रता की आस्था। इतने पर भी कौमार्य की पवित्रता पर उसने आंच नहीं आने दी थी।

अनेक अवसरों पर दिनेश—लता को झुककर थाम लेता किन्तु लता दृढ़तर होकर—चतुरता की अंगड़ाई में, दिनेश को भुलावे में डाल कर, छिटक कर बच भागती और तब दिनेश—प्रतीक्षा की सांध्य-वेला में दबकर रह जाता—निरन्तर भावी प्रतीक्षा के संतोष में घिर कर।

× × ×

कमलस्वरूप से चाचाजी ने विस्तार में सारी घटना का विवरण दे दिया। अब, प्रतिदिन की—गतिविधियों की चर्चा कर दी और तब यह भी बता ही दिया कि वह 'शैतान' ऊपर ही कमरा लेकर ठहरा हुआ है।

स्वरूपरानी के विरोध पर भी कमलस्वरूप ने एक न सुनी और सारे परिवार को देहली लाद दिया।

यों बम्बई की अठखेलियों की समाप्ति तो हुई किन्तु दिनेश भी किसी प्रकार आँखें बचाकर फ्रान्टियर-मेल में उसी डब्बे में बैठा जिसमें स्वरूपरानी व परिवार ने सफर किया था।

स्वरूपरानी को दिनेश से कभी विरोध नहीं रहा अतः उन्होंने दिनेश के साथ चलने का भी किंचित विरोध नहीं किया।

सेकिंड क्लास के उस डब्बे में कुल मिलाकर छै 'बर्थ' थीं। नीचे की एक 'बर्थ' में स्वरूपरानी व दूसरी 'बर्थ' पर लता लेटी थी। लता के ठीक सामने ऊपर वाली 'बर्थ' पर दिनेश का बेडिंग शोभा दे रहा था। वह 'बर्थ' स्वरूपरानी की 'बर्थ' के ऊपर पड़ती थी अतः दिनेश के संकेतों में गूँजता क्रिया-कलाप, तिनके की ओट की भाँति, स्वरूपरानी से, अदृश्य होकर भी लता के ठीक सामने था। लता के ठीक ऊपर की दूसरी 'बर्थ' पर बच्चों के लेटने की व्यवस्था कर के दोनों नौकर सर्वेन्ट में चले गये थे। नौकरों का साथ रामू ने भी दिया।

मित्रवर अक्षय बन्धु इस बार इण्टर-क्लास में सफर कर रहे थे। कमलस्वरूप व रामस्वरूप दोनों ही कुछ दिन और रुकने के ध्यान से बम्बई ठहर गये थे।

शेष दो 'बर्थों' में से ऊपर वाली पर एक अतीव-सुन्दरी-स्त्री बम्बई से ही चित लेट कर यात्रा का सुख लूट रही थी।

उसके साथ की दो अधेड़ स्त्रियाँ एक-साथ—एक ही बर्थ पर लेट-बैठकर सफर कर रही थीं। इन स्त्रियों के साथ कई पुरुष यात्री भी थे जो पीछे के डब्बों में यात्रा कर रहे थे व स्टेशन आने पर उनमें से कोई न कोई इनके निकट आकर हँस-बोल जाता था।

18356

ऊपर लेटी महिला की वार्ता में एक विचित्र-सी शोखी टपकती थी और इनके साथियों में जब भी कोई कम्पार्टमेंट में आता किसी न किसी रूप में इन देवी जी से छेड़छाड़ करता और ट्रेन रेंगने पर उतर कर अपने डब्बे में चला जाता।

एक विचित्र-सा वातावरण था।

स्वरूपरानी व लता भी हैरान थीं व दिनेश तो जैसे लता व वातावरण दोनों को ही भुलाकर केवल एक ओर केन्द्रित होकर रह गया था। लता कनखियों से दिनेश की आकृति के बदलते रंग देखती, तो कभी मधुर मुस्कान में डूब जाती। कभी सोच में पड़ कर दिनेश के प्रति अनेक कल्पनायें बनाती और मिटाती।

फ्रान्टियर-मेल द्रुत गति से देहली की ओर दौड़ रहा था।

कम्पार्टमेंट में केवल दिनेश व निकटवर्ती ऊपरी 'बर्थ' पर लेटी महिला के अतिरिक्त सब सो रहे थे। महिला की आकृति में सौन्दर्य के झिलमिलें दूधिया प्रकाश की सी दीप्ति प्रकाशित थी। वेश-भूषा के बनाव-चुनाव में वह पूर्णतः आधुनिक बनी हुई थी। ब्लाउज़ की बनावट में केवल उसका उभरा अंग ही दब पाया था। शेष वक्ष, गले और नीचे के पेट का पूरा भाग-गात के सुनहले रंग को चमका रहा था। रह-रह कर वह अपनी साड़ी के छोर को हठात् कभी समेट कर दाब लेती और अनजाने के से कृत्रिम अभिनव में तब अपने वक्ष को पूरा उघाड़ लेती और ज़ोर-ज़ोर से सांस लेकर मांसलता के केन्द्र-बिन्दुओं को उठा-दाब कर नोकीला बनाती।

उसके नेत्रों की अद्वितीय बनत में विचित्र-सा आमन्त्रण प्रकट होता जिसे वह कम्पार्टमेंट के एक-मात्र पुरुष यात्री दिनेश पर रह-रहकर आरोपित कर देती।

दिनेश भी निरन्तर उसकी रूप-माधुरी का पान करता, विचलित-सा, तकिये पर सर उठाये पड़ा रहा। थोड़ी-थोड़ी देर में वह यह देख लेता

कि सामने लता सो रही है या जाग रही है। उस क्षण उसे लता के अनुराग से विराग-सा हो रहा था।

रात्रि अधिक बीत गई थी। कम्पार्टमेंट की एक खिड़की से हवा का तेज झोंका आकर वातावरण में कंपन उत्पन्न करता और तब चारों ओर फैल जाता वैसे ही जैसे मन में कोई सुधि आकर पैठ जाती।

और इस समय वह महिला अपनी पूरी निद्रा में बेसुध सो रही थी।

दिनेश उठा। उसका दु:साहस जगा। उसने बेडर, बेहिचक उस मांसल सुन्दरी के ओठ चूम लिये और खटाक् से नीचे कूद गया।

हड़बड़ाकर वह उठी। क्रोध अथवा संसर्ग के उद्वेलन में वह सिहर उठी और ज्योंही उसने इधर-उधर दृष्टि फेंकी—उसने देखा दिनेश की 'बर्थ' खाली थी और 'लेवेटरी' का द्वार बन्द किया जा रहा था। उसकी कुछ समझ में नहीं आया। उसे लगा स्वप्नावस्था में उसे कुछ भ्रम हो रहा है।

रूप पीने की वस्तु है, यौवन चखने की चीज है, कौमार्य परखने की बात है और प्यास—उसे कहीं भी मिले तृप्ति चाहिये, मिठास चाहिये। ऐसी सी मान्यता आज किस में नहीं ? और दिनेश—वह उस अनहोने चुम्बन के मधुमय स्वाद में डूबा, चुपचाप, 'लेवेटरी' का द्वार बन्द करके बाहर आया।

उसने ऊपर झांका। उसे लगा जैसे चुम्बन के अतिरेक में पलक मूंदे वह अभी भी सो रही थी। उसने इधर-उधर निहारा—सब निद्रा-निमग्न थे।

तभी दिनेश आगे बढ़ा और निकट आकर उसने लता को गुदगुदा दिया। लता खिड़की की ओर मुंह किये सोई पड़ी थी। हड़बड़ा कर लता ने अलसाई आंखों से घूमकर देखा—दिनेश उसपर झुका हुआ था।

संभलकर—लता ने एक दृष्टि—कम्पार्टमेंट के चारों ओर फेंकी—'कहीं कोई जाग तो नहीं रहा है'—और तब दिनेश ने झुककर लता के ललचाये ओठों पर एक छाप लगा दी।

इस सरल प्रहार से ही लता कराह उठी। और तब हाथ के संकेत से उसने दिनेश को उसकी बर्थ दिखाते हुये जैसे कहा—"चलिये, महाशय—ऊपर जाइये। कोई जाग गया तो।"

दिनेश ने पुनः लता को चूम लिया और तब किनारे आकर अपनी 'बर्थ' की जंजीर थामकर चढ़ गया।

पलकों की कोरों को किंचित उठाकर उस युवती ने दिनेश की सारी क्रियायें देखीं। और उसने सोचा—वाह, क्या खूब है! जिसको पाया—प्याला जानकर ओठों से लगा लिया। वह कल्पना में अस्त-व्यस्त हो रही थी कि लता को खिड़की की ओर मुंह करके सोता देखकर दिनेश के ओठ पुनः उसके आरक्त कपोलों को दो बार चूमकर जैसे ही पृथक् हुये कि 'चट्ट' की आवाज़ के साथ दिनेश का मुंह घूम गया।

तिलमिलाहट में दिनेश की दृष्टि जो घूमी तो उसे लगा कम्पार्टमेंट के उस सन्नाटे में तमाचे की तन्नाहट ने एक तेज़ आवाज़ पैदा की है और एक ओर से लता की दृष्टियाँ घूमकर उसकी ओर टिकी हुई हैं और दूसरी ओर से युवती''''के नेत्र अपलक उसपर विषाद-वर्षा कर रहे हैं और उसका दायां हाथ जैसे दूसरे पल के लिये कुलबुला रहा है।

उस युवती ने अपनी दृष्टि एक पल के लिये घुमाई तो उसने देखा कि नीचे सामने की बर्थ वाली लड़की ने जैसे सब कुछ देखकर अपनी दृष्टि भूमि पर टिका ली है और तब उसने भी अपने को लौटाला, अपनी गर्दन घुमाई, हाथ यथास्थान टिकाया और तकिये पर सर रखकर लेट रही। उसका श्वासोछ्वास बड़ा तीव्र हो रहा था। लग रहा था मानो उसके वक्ष का कुछ भाग उठकर—उभरकर सेकेण्ड-क्लास की छत के 'ह्वाइट-इनेमिल' से जा लगेगा।

जैसे रात्रि घुलकर सवेरा हो आया उसी भाँति दिनेश भी कलुष के पर झाड़कर स्वस्थ वातावरण में उठ बैठा। नींद उसे सारी रात नहीं आई।

सुबह 'डाइनिंग-कार' का बैरा जब चाय लाया तो स्वरूपरानी की कई पुकारों के पश्चात् दिनेश बर्थ से उतरकर नीचे आया।

भीषण बाढ़ आकर जैसे अपने कुछ चिह्न छोड़ ही देती है उसी भाँति उद्दण्डता की बाढ़ के अनेक चिह्न कम्पार्टमेंट के वातावरण में गूँज की प्रतिध्वनि उत्पन्न कर रहे थे।

स्वरूपरानी ने—कई कप चाय बनाई और दिनेश, लता व बच्चों की ओर बढ़ा दी। दिनेश—गुमसुम चाय के प्याले में डूब गया।

ट्रेन दौड़ रही थी। फ्रान्टियर-मेल की तीव्र गति और उसके पीछे दौड़ने वाले पेड़-पौदे, मैदान व छोटे-मोटे स्टेशन और पहियों की रगड़ से उत्पन्न होने वाला शोर""सबने मिलकर दिनेश के नेत्र व कान जैसे मूँद दिये।

चाय—वह लिये बैठा रहा।

नव-नव अनुराग के प्रथम-देवता के आचरण पर लता का मन गहरी सांसें ले रहा था। उसी क्षण स्वरूपरानी ने चाय का प्याला दे दिया। लता की दृष्टि शून्य में डूबी हुई थी व मन कल्पना लोक के अनचाहे आक्रोश में घुमेड़ें ले रहा था और तभी चाय का प्याला उसके हाथ से छूटकर कम्पार्टमेंट की भूमि पर खील-खील होकर फैल गया। सारी दृष्टियाँ लता और तब उन टुकड़ों पर टिक गईं।

लता को लगा जैसे उसका मन टूटकर वैसे ही खील-खील होकर प्याले के प्रत्येक टुकड़े को चूम लेना चाहता हो। विषाद की वैसी-सी घटायें—

किन्तु लता को लगा जैसे कुछ हुआ ही नहीं था और वह अविचल व मौनभाव से सामने खेतों की भाग-दौड़ देखती रही। दिनेश समझ रहा था। वह उठा और चुपचाप अपनी बर्थ पर जा लेटा।

———

१०

"माफ कीजियेगा—कल मैंने बेहद पी ली वर्ना.........," कहते-कहते उस बर्थ वाली युवती ने रात की चोट पर मरहम लगाने की चेष्टा की।

दिनेश ने सोचा—बात समाप्त हो चुकी और तब उसने प्रश्न किया— "कहां से आ रही हैं ?"

"वह तो आपने देखा ही है। पूछिये कहां जा रही हैं ?"

"वही सही.........।"

"उसका भी क्या कीजियेगा ? बस इतना ही बहुत है कि मैंने छोड़ दिया वर्ना मेरी पार्टी.........।"

दिनेश ने समझा उसको दूसरी चर्चा मिल गई और वह अगले स्टेशन पर ट्रेन रुकते ही अक्षय के पास चला आया।

अक्षय ने बताया कि बानू किसी स्टेट के राजकुमार के साथ बम्बई आई थी और वीरेन्द्र ने जब सुना तो पता लगाकर वह भी पहुंचा। यहां आकर उसने 'ग्रीन' में कमरा ठीक किया, साजिन्दे ठीक किये और घेर-घार कर बहाने से उसे वहां ले आया.........

"और तब.........तुमने देखा ही।"

"लेकिन, वो इंस्पेक्टर के बच्चे क्यों आये थे ? मेरे पास.........।"

"मरते-मरते भी बानू की जबान से तुम्हारा नाम जो निकला था.........।"

"उस कम्बख्त को भी मैं याद आया—मरते वक्त.........।"

"वह तो मरती ही थी तुम पर और फिर मरते-मरते भी नाम लेती रही.........।"

"अरे मैं इन सबको समझ चुका हूँ.........अच्छी तरह.........।"

"तभी अब तबियत बाहर के बजाय घरों पर चलने लगी है.....।"

"अक्षय, यह बात नहीं है। सचमुच मेरा मन उधर बरबस खिंच गया है.........," कहते-कहते दिनेश को रात के तमाचे का स्मरण हो आया। किन्तु अन्तर्मन से ही जैसे उसे लगता था कि वह सब कुछ नहीं है। क्लेश काहे का? वह सब ठीक है—यों ही चलता है।

दिनेश न्यू दिल्ली स्टेशन पर ही उतर गया। उसने सोचा—व्यर्थ वह शान्तिस्वरूप के सामने यों क्यों पड़े?

लता न मार्ग में, न स्टेशन पर विदा होते समय ही दिनेश से बोली।

दिल्ली आकर, दिनेश कई दिन तक लता के बंगले नहीं गया। लता की ओर से भी उदासीनता बनी रही। बम्बई से लौटने के पश्चात् का वह सन्नाटा और दूरी मन को कंरोच रही थी।

लता अपना मार्ग निर्धारित करने में कुछ समय चाह रही थी। वह गूढ़ चिन्तन कर रही थी। स्नेह की आस्था, नैतिकता की चेतना, एकनिष्ठा का आनामाना विश्वास—प्रणय की अस्थिर-सी अवस्था में आराध्य की स्वीकृति में, कुछ गुण-गान करना चाहता था; किन्तु सिवा दोषों के पात्र में कहीं गुण ढूंढने को भी नहीं मिल रहे थे। और तब वैसी-सी अवस्था में कोई कैसे जीवन-नौका को ऐसे नाविक के सहारे तैरने दे जिसमें यह डर बना ही रहे—प्रतिक्षण—कि कहीं वह लेकर ही न डूब जाय—तब लता का शिशु-अनुराग घुटनों न चल कर खड़ा होना चाहता—किन्तु खड़ा हो कैसे अभी पैरों में लड़खड़ाहट जो बनी हुई थी।

और लता—सोचती, दिन-दिन भर खूब सोचती। कहीं उसका मन नहीं लग रहा था। दिनेश के आचरणों की बात ध्यान में लाकर वह जब भी अपने को कहीं रिझाना चाहती तो वह कराह का अनुभव करती। जीवन में कहीं मन डोला भी तो वह.........किस पर और कैसी-सी मानसिक दुरावस्था में ?

स्वरूपरानी ने भी दिनेश की चिन्ता नहीं की। अधिक दिनों बाद वे लौटी थीं अत: घर की सम्भाल व व्यवस्था में व्यस्त हो गई।

हां, इस बीच में एक दिन दिनेश की भेंट शान्तिस्वरूप से हो गई थी। दोनों ही घुंघरुओं की रुन-झुन में तल्लीन हो गये और जब उठे तो कार में बैठते-बैठते भी देर तक—सड़क पर खड़े ही खड़े—बात-चीत होती रही और तब शान्तिस्वरूप ही दिनेश को अगले दिन बंगले पर आने का निमन्त्रण दे आये और इधर बहुत दिन से न आने की शिकायत भी उन्होंने कर ही दी। शान्तिस्वरूप अभी भी अन्तरङ्ग में वैसे ही स्पष्ट थे। किसी के प्रति उपेक्षा के भाव लाना जैसे वे जानते ही न थे। हानि उठाते हुये भी जैसे वे अलौकिक-क्षमा-दानी थे।

मन में हर्ष, उत्फुल्ल, शोक, क्लेश, क्षोभ, घृणा, श्रद्धा, स्नेह, अनुराग सभी उत्पन्न होते हैं और विलीन भी। किसी की भी दशा स्थिर नहीं रह पाती। रह जाय तो हर्ष और शोक दोनों ही दशा में व्यक्ति या तो विक्षिप्त हो जावे या जड़ होकर रह जावे। वह मन का ही तो परिवर्तन है जिसे हम जीवन के चक्र की संज्ञा दिये हुए हैं। रात-दिन के घूमते पहिये में मन ही तो मानता है कि अमुक स्थिति दिन व अमुक रात है। इसके विपरीत तारों घिरी रात को सारे विश्व की मान्यता यह निश्चित कर ले कि उस काल को दिन कह कर पुकारा जावेगा, तो सूर्य से उत्तप्त दिवस रात होकर ही रहेगा।

और जो यह कहते हैं कि हमारे सम्बन्धों की दुहाई में हमारे अनुसार—विचार—व्यवहार—नीति—रीति माननी होगी, रात को

दिन और दिन को रात कहना होगा तो, हम जैसे चलें, चलना होगा, हम जैसा कहें करना होगा, हमारे दोषों को गुण मान कर ही दण्डवत् श्रद्धा करनी होगी—तो मन को मानना ही होगा। अन्तरात्मा की पुकार की गूंज कुछ भी हो—यदि हमारा मन मानवगत सम्बन्धों को विच्छिन्न रूप में नहीं साधना चाहता है तो मन के राजा का हुक्म पूरा ही करना होगा—उसकी बात माननी ही होगी जिसको मन ने मान लिया है—और मन ने यदि दिनेश को माना है तो दिनेश—कृपा का, क्षमा का, श्रद्धा का—न जाने किस महानता का पात्र है ही। क्षणिक विराग-विषाद जो लता के मन में था वह समाप्त हुआ ही।

तभी न्यू देहली स्टेशन पर उतरने के पांचवें दिन दिनेश की कार का हार्न घनघनाता हुआ—लता के बंगले के 'पोर्टिको' में आकर शान्त हो गया।

सिगरेट का कश खींचते हुये दिनेश घूमा तो उसने देखा कि लता बंगले के लान पर एक आराम कुर्सी पर बैठी है—दूसरी कुर्सी पर उसके दोनों पैर फैले हुए हैं और अपनी दाहिनी गदेली पर अपनी ठोढ़ी टिकाये वह किसी गहरे विचार-सागर में तैर रही है। पास ही छोटे-छोटे बच्चे गेंद खेल रहे थे। दूसरी दृष्टि में दिनेश ने देखा कि बंगले का बरामदा, कमरे व सड़क निर्जन व निःशब्द हैं। तभी वह लता के सामने आ खड़ा हुआ।

आश्चर्य और अतिरेक की मुद्रा में लता ने दिनेश के स्वरूप को देखा—उसकी भाव-भंगिमा में अपने से एक मुस्कान दौड़ गई और स्नेहिल-व्यवहार में पली लता के दोनों हाथ, अनायास ऊपर उठ गये। अपने फैले पैरों को हटा कर वह उठ खड़ी हुई और तब अपनी गर्दन किंचित झुका कर वह मौन-मुखर सी नेत्रों को भूमि पर गड़ाये, खड़ी होगई। दिनेश ने आगे बढ़कर उसके सिर को चूम लिया।

दिनेश कुछ आगे बढ़े इसके पूर्व ही धीमे स्वर में लता कह उठी—
"बैठिये।"

पांच दिन नहीं पांच वर्ष के इस दीर्घ काल में चिन्तन और निर्वासन की-सी दशा में सोच-सोच कर लता ने अपने आपको इतना थका लिया कि उसका मन—बस अब केवल प्यार की छांह और दिनेश के दर्शन को ही आतुर हो उठा। कुछ-कुछ झुटपुटा हो रहा था। दिनेश अपने प्यार-व्यवहारों में पूर्ण कुशल होने के साथ ही पूर्ण साहसिक भी था। उस उदासीनता, उस अनवोले, उस 'गैप' को दूर करने के हेतु उसके पास अनेक सरस व सजग उपहार थे और तब अपने मन के जागरूक अनुरोध पर उसने बैठे ही बैठे अपनी आकुल वाहों में लता को भींच लिया।

बच्चे अपने खेल समाप्त करके लान से कमरों में जाना चाह रहे थे तभी उनकी उछलती गेंद उछलकर दिनेश के हाथ पर आ पड़ी और उस की चोट से सिगरेट का 'ऐश' ऐश के जादूगर पर चिपक गया जिससे एक जलन-सी उसकी उंगली पर हुई। दिनेश हँस दिया—बच्चे हँस कर भाग गये। लता की हिरनी-सी आँखें चंचल होकर आगे बढ़ीं—उसने पूछा—"देखूं—कोई चीज लाकर लगाऊं।" तभी उसकी बढ़ी उंगलियों को अपने हाथ में लेकर दिनेश देर तक अपनी पलकों पर फेरता रहा।

कुछ देर यों ही वातावरण मौन बना रहा तब दिनेश ने निस्तब्धता भंग करते हुये कहा—"कुछ नाराजगी है ?"

अपनी भौहों व माथे पर त्योरियां चढ़ाते हुये लता ने कहा—"कैसी ?"

"जैसी देख रहा हूं·······," कहते-कहते उसने अपनी उंगलियों से लता के बालों को उलझा दिया।

"उससे क्या ? किन्तु आपने ऐसा कुछ सोचा ?" लता ने अपने सिर को किंचित हटाते हुये कहा।

पुनः वातावरण शान्त बना रहा। बरामदे व कमरों में बत्तियां जल गईं और दिनेश ने प्रस्ताव किया—"चलो, पिक्चर देख आवें·······।"

"पिक्चर, नहीं—मुझे मां के साथ बाजार जाना है।"

"यह नाराजगी नहीं है ?"

"बिलकुल नहीं। मैं आपके साथ सिनेमा गई ही कब हूं ?" लता ने मुस्कराते हुए बात टालनी चाही।

"मेट्रो—बाम्बे, 'प्यार की जीत'—," कहते हुये दिनेश पुनः लता पर झुक गया।

लता मौन बनी रही। उस छेड़-छाड़ का विरोध वह न कर सकी। अतिरेक में वह भी डूब रही थी। यौवन-रस में भीगे अंग-प्रत्यंगों की चाह·······वह मस्तिष्क की किसी कंरोचन का साथ नहीं देती।

और एक चीख के साथ उसने अपनी कुर्सी शीघ्रता में पीछे सरकाते हुये कहा—"सीधे बैठिये, यों खुले खजाने।

"हां, खुला खजाना देख कर।"

लता लजा गई और दिनेश हंस दिया। उसने पुनः कहा—"चलो पिक्चर देख आवें।"

"नहीं, बम्बई की बात जाने दीजिये। वहां की बातें क्या यहां भी दोहराई जावेंगी ?"

"क्यों ?"

"नहीं, कभी नहीं," और मन में लता सोचती जा रही थी यों समक्ष पाकर मैं कितनी विवश हो जाती हूं। तन-मन की सुधि ही नहीं रहती किन्तु इस समक्ष बैठे व्यक्ति को आचरण की उद्दण्डतायें, रोज नई शिकायतें और ओफ! मेरे ही सामने उस दिन ट्रेन की वह घटना। यह दिलेरी और तमाचा भी कसकर पड़ा होगा महाशयजी के। किन्तु उसने उस समय न कुछ कहा, न शोर मचाया—पर क्या कहती ? अनेक बार ऐसे में मसोस कर रह जाना पड़ता है। और कहने पर अपने पर ही आंच जो आती है। तो—यह भी क्या—जो चाहे जो होता रहे—किन्तु लघुता जो विरासत में मिली है हम लोगों को—प्राकृतिक व सामाजिक दोनों ही। किन्तु ऐसा नहीं होना चाहिये········ किन्तु इतने सब पर भी इतने सम्मोहन से आ घेरता है—यह दुष्ट········

और उस क्षणिक शान्ति को भंग करते हुये लता ने कहा—"कहां जाइयेगा ? चलिये, मैं भी नहीं जाती। कुछ सुनाइये।"

'हां········।"

मुँह में गुन-गुनाहट भर कर दिनेश कुहुक उठा—

ध्यान मान का, अपमानों का
छोड़ दिया, जब पी हाला,
गौरव भूला, आया कर में
जब से मिट्टी का प्याला
साक़ी की अन्दाज भरी
झिड़की में क्या अपमान धरा········

और लता अनायास हँस पड़ी। अपनी शुभ्र धोती के छोर को दांतों में दाबते हुये वह बोली—"सिद्धान्त तो बहुत ऊंचे हैं।"

दिनेश समझा। वह कुछ शर्माया। किन्तु तब विद्युत के उस झिलमिले से प्रकाश में न लता की मुस्कराहट स्पष्ट थी न दिनेश की लाज ही दिख रही थी। भीगी मिट्टी की गन्ध मन को मुग्ध कर रही थी। कभी झींगुर की चिटकन कानों में गूंज जाती। लान की घास व हरी-भरी पत्तियां मौन, केवल भावनामयी होकर उन युगल-स्नेहियों की सरल वार्ता की मिठास का आनन्द ले रही थीं।

लता के उस व्यंग्य से दिनेश तिलमिलाया और उसने लता की बांह पर एक चुटकी काटी और पुनः गुनगुनाने लगा—

देख रहा हूँ अपने आगे
कब से माणिक सी हाला,
देख रहा हूँ अपने आगे
कब से कंचन का प्याला,
बस अब पाया !—कह-कह
कब से दौड़ रहा इसके पीछे
किन्तु रही हा दूर क्षितिज-सी
मुझसे—"तुम"—मेरी मधुशाला····

"मुझसे—'तुम"—"मेरी", यह "तुम" तो कहीं है नहीं""तो यह आप अपनी ओर से जोड़ना चाह रहे हैं।" लता ने पुनः जोर से हँसते हुये एक प्रहार किया और कह गई—"यों—तुम—मेरी मधुशाला, दूर ही रहेगी, श्रीमान् जी।"

दिनेश सोच रहा था—आज लता को क्या हो गया? कभी न बोलने वाली लता आज यों व्यंग्यात्मक; ऐसी भयंकर कैसे हो उठी है? पर""गात की धवलता में मेरी श्यामता—इतनी शीघ्रता में पैठ जावेगी, पैठ रही है—वह होना ही है—वह होकर रहेगा और वह बोला—"या तो पहले अपनी ही कह लो—जी भरकर।"

"अच्छा-अच्छा सुनाइये।"

कभी निराशा का तम घिरता
छिप जाता मधु का प्याला,
छिप जाती मदिरा की आभा
छिप जाती साक़ी बाला
कभी उजाला आशा करके,
प्याला फिर चमका जाती
आँख मिचौनी खेल रही है
मुझसे मेरी मधुशाला।

लता मौन-मुखर बनी रही।

'आ आगे' कहकर कर पीछे
कर लेती साक़ी बाला
होठ लगाने को कहकर हर
बार हटा लेती प्याला
....
....

"तभी तमाचा पड़ जाता है, तेजी से क्यों जी लाला?"

तभी सामने से शान्तिस्वरूप की कार हार्न देती हुई बंगले के फाटक में घुस गई।

जैसे लता की उस बात पर दिनेश ने उस क्षण भी एक ज़ोर का तमाचा पड़ने का अनुभव किया।

वह लपका और लता को रोकने लगा।

किन्तु, "पिता जी" कहकर लता लान से बाहर हो गई।

× × × ×

शान्तिस्वरूप के निकट थोड़ी देर बैठकर दिनेश बड़े अनमने भाव से लता के बंगले से लौटा। आज जीवन में प्रथम बार वह पराजित-सा हो रहा था। आज प्रथम बार उसने लज्जा का अनुभव किया था। वह रह-रह कर क्षुभित व संकुचित हो रहा था। 'लता के मन में कैसी प्रतिक्रिया है'—यह बात रह-रह कर उसे करोंच रही थी।

अपनी प्रेयसि द्वारा प्राप्त व्यंग्य या अपमान—अथवा उसके समक्ष हुआ अपमान—व्यक्ति पी जाने को कभी तत्पर नहीं होता।

इतना ही नहीं, वह आगे सोच रहा था—जब उसके कानों में स्वर गूंज गया था—शान्तिस्वरूप ने दिनेश के स्वागत-सत्कार के स्थान पर अपने ड्राइवर को सम्बोधित करके—तीव्र स्वर में कहा था—"ऐ ड्राइवर, देखो बाबू साहब से कहो गाड़ी 'पोर्टिको' से हटाकर ले जावें।"

और लता बरामदे की सीढ़ी चढ़ते-चढ़ते सन्न रह गई थी''''और मैं, जो सामने ही खड़ा था तिरस्कार की उस पहली आवृति को पीकर गाड़ी हटा लाया।

और तब—"भाईजी, नमस्ते।" के उत्तर में शान्तिस्वरूप की एक तीव्र दृष्टि मुझ पर पड़ी और वे कमरे में चले गये।

शान्तिस्वरूप का वह व्यवहार—वैसा अपमान और तिरस्कार जब कि वे स्वयं मुझे बुला गये थे। यह क्या और क्यों हो गया? अवश्य

कुछ बातें बाहर आई हैं। और शान्तिस्वरूप का वह पूर्व व्यवहार—जबकि वह उनसे दिन-रात में जितनी भी बार मिला उन्होंने उसकी बाहों में हाथ डालकर ही वार्तालाप की।

कार ड्राइव करते हुये इस खिन्नता में वह अलक्षित-सा थोड़ी देर घूमता रहा और तब केनाट-सर्कस में एक ओर कार लगाकर वह—काफी-हाउस में आ बैठा।

वहां बैठे-बैठे वह उठा और चल दिया।

तभी वह एक दूसरे 'रेस्ट्रां' में आ बैठा और बड़े धीमे स्वर में उसने बैरे को आवाज़ दी।

बैरा सामने आया और दिनेश को देखकर—कुछ समझते हुये, बिना कुछ कहे या पूछे लौट गया।

पैग के पहले "सिप" में उसने दृष्टि घुमाई तो उसे लगा वह सोते से जैसे जगा है। सामने देखकर वह हैरान होगया। "पैग" हाथ में हिला और सम्भला। 'स्काच' की बोतल लड़खड़ाई और रुक गई।

सामने की मेज पर अक्षय''''और''''और वही''''वही—सौन्दर्य-मूर्ति—वही—कम्पार्टमेंट; और इस क्षण भी दिनेश ने अपने हाथ से अपना बायां गाल सहला लिया। पर यह यहां कैसे? और इस अक्षय के साथ?

वह उठा और आगे बढ़कर उसने अपना हाथ बिना कुछ कहे अक्षय के कन्धे पर जा टिकाया। अक्षय धुत् था।

दिनेश से अधिक हैरानी उस युवती को हो रही थी। दिनेश वहां और वह जिस व्यक्ति के साथ है वह उस व्यक्ति के समक्ष सेवक अथवा अपराधी-सा सामने खड़ा है। अक्षय सचमुच बड़ा डरा-सा दिनेश के सामने उठकर खड़ा होगया था।

तब उस युवती ने सोचा—अक्षय ने तो उससे अपने को एक स्टेट का सेक्रेटरी बताया था तो क्या यही वह 'हिज़-हाइनेस' है—'बट

एक्सर्ड""यह तो वैसा नहीं दिखता। और अगर वह हो और उसने इसी के तमाचा लगाया हो तब, तब तो बड़ा बुरा हुआ।

तभी अक्षय ने दबे स्वर में—अपने को खड़े रहने में असमर्थ पाकर—बैठते हुये कहा—"मिस मोलिनी, फेमस डान्सर फ्राम गोआ।"

दिनेश एक शुष्क हँसी हँसा और उसी मेज पर मोलिनी के निकट बैठ गया। बैरा ने दिनेश का प्याला उसकी मेज़ से लाकर वहीं रख दिया।

तब अक्षय बोला—"ओडियन में परसों डान्स है।"

" 'ओडियन' में," दिनेश ने दोहराया।

"माई फास्ट फ्रेन्ड मि० दिनेश," कहते हुये अक्षय नें दिनेश का परिचय दिया।

मिस मोलिनी जो अब तक एकटक दिनेश के बायें गाल को निहार रही थी—चौंकते हुये कह गई—"आई मेट हिम।"

और दिनेश थर्रा गया। अक्षय ने दिनेश की ओर संदेहपूर्ण दृष्टि से देखा और तब मिस मोलिनी ने पुनः वाक्य जोड़ दिया—"लेट इट गो। जाने दीजिये। नाऊ वी आर फ्रेन्ड्स, हियर।"

और दिनेश मन की करोंचन में मौन हो रहा।

इतने ही में दिनेश उठ बैठा। अक्षय का हाथ पकड़कर उसे एक ओर ले गया और तब दोनों पुनः आकर मेज़ पर बैठ गये।

———

११

ओडियन में होने वाले मिस मोलिनी के डान्स की धूम मची हुई थी। विशेष प्रचार द्वारा नगर भर में एक हलचल-सी भर दी गई और जैसे सारा नगर नृत्य और तारिका को देखने के लिये लालायित हो उठा। ओडियन के आगे की सड़कें, फुटपाथ व दूकानें, भीड़ को सम्भालने में असमर्थ हो रही थीं। एडवान्स-बुकिंग के बाद भी न जाने कितने पुरुष-स्त्रियाँ क्षीण आशा लिये—मिस मोलिनी की पतली थिरकती तस्वीर के बाहरी पोस्टरों को देख-देखकर कभी उलझे, और कभी सन्तोष में खड़े आकुल थे।

हाल में घिरे बैठे लोग पर्दा उठने की प्रतीक्षा में कभी चुपचाप बैठते तो कभी शोर-गुल से हाल की छत को ही उड़ा डालने की चेष्टा करते। नईदिल्ली के कनाट प्लेस-कनाट सर्कस में हर समय रूप और आधुनिकता का वह तैरता सागर—लगता था, जैसे सिमटकर हाल में बन्द होकर इठला रहा है।

और आकृतियाँ, एक से एक मोहक, रूप एक से एक मदिर, यौवन एक दूसरे से अधिक थर्राता हुआ, सौन्दर्य निखरता हुआ, वेश-भूषा छवियों को संवारती हुई, भाव-भंगिमायें आकर्षण और आमन्त्रण के आह्वान में मचलती हुई, ड्रेसेज की एक से एक डिजाइनें, ज्वेलरी की एक से एक बढ़ती हुई चमक के बीच···धन वैभव जैसे उभरा पड़ रहा

हो, लुटा पड़ रहा हो उसी भाँति जिस भाँति कनाट-सर्कस के चारों ओर—दूर-दूर तक रूप और यौवन प्रतिपल लुटता रहता है। और ये ऊँची अट्टालिकाएँ आधुनिकता को समेटे, व्यस्तता को घेरे, ऐश्वर्य की ओट, विलास में लीन, वासना में लीन—प्रतिक्षण कुछ कहती, कुछ सुनती, कुछ करती, कुछ बनाती, कुछ बिगाड़ती हैं; किन्तु स्वतः ये सब मौन, भव्य और अविचल खड़ी रहती हैं, आदर्शों और नैतिकता का, उभरी गुम्बजों पर से कुछ संदेश देते हुये।

और ओडियन के आसपास और दूर तक पंक्ति-बद्ध चली गईं ये सैकड़ों दूकानें—एक-एक दूकान जैसे दूकानों का मोहाल; इनमें क्या है? इनमें क्या नहीं है? वह-वह बहुत कुछ है जिसे वैभव-विलास की रंगीनियों को क्रय करने वाले, हरे-पीले-नीले-हलके या गहरे रंग के कागज़ के टुकड़ों से—जो 'देशमुख' या 'तीन शेरों' की आकृति दाबे हैं—हर समय खरीदते हैं।

यह कनाट-सर्कस—आज भव्यता का केन्द्र है; विलासिता का केन्द्र है; आधुनिकता का केन्द्र है; मानव जाति के आंशिक-इतिहास का केन्द्र है; साहित्य, संगीत और राजनीति का केन्द्र है; विज्ञान और अनुसंधानों का केन्द्र है; विश्व का केन्द्र है; मदमाते रूप और यौवन का केन्द्र है; शृङ्गार और प्रसाधन में—भारत में पेरिस के प्रचार का—केन्द्र है; दिल्ली में लाहौर की अनारकली की याद; दिल्ली में लन्दन के 'पिकाडेली' की याद; दिल्ली में न्यूयार्क की 'वालस्ट्रीट' की याद; दिल्ली में जर्मनी के 'लिन्डेन' की याद; दिल्ली में फ्रान्स के पेरिस के बाउलेवर्ड की याद; दिल्ली में इटली के नेपल्स की 'वाया-रोमा' की याद; दिल्ली में ग्रीस के एथेन्स के 'एक्रोपोलिस' की याद; दिल्ली में टर्की के 'ग्रान्ड-र्‍यू-डे-पेरा' की याद; दिल्ली में इजिप्ट के कैरो के खान-एल-खलील के 'ओरिएन्टल बाज़ार' की याद; दिल्ली में अफ्रीका के डरबन की 'पाइन-स्ट्रीट' की याद; दिल्ली में आस्ट्रेलिया के सिडनी की 'जार्ज-दि-थर्ड स्ट्रीट' की याद; दिल्ली में बर्मा के रंगून के 'स्ट्रैन्ड-रोड' की याद; दिल्ली में चीन के

हांगकांग की 'डेस वोएक्स ग्रौर कनाट की याद; दिल्ली में जापान के टोकियो की 'गिन्ज़ा' की याद; दिल्ली में रूस के मास्को की याद दिलाता है।

यहीं कनाट-सर्कस से घिरा—हरी दूब का भरा-भरा चक्कर प्रेम का केन्द्र है।

रूप में उभरती स्त्रियां—अल्हड़ युवतियां, किलकती कुमारियां यहां इठलाती चलती हैं। पुरुष, युवक व अल्हड़ बछेड़े यहां विचित्र-सी कल्पनायें लिये—आशायें लिये झूमते चलते हैं। मिलिट्री वाले यहां ऐंठते—मूंछें व दाढ़ियां टेते हुये चलते हैं। 'फारेन-इम्बेसीज़'—के पर्सनल, चीन, जापान, टर्की, रूस, अमेरिका, थाईलैंड, हाईलैंड, हाजीलैंड, गाज़ीलैंड, इङ्गलैंड, हंगरी, इटली, स्पेन, पुर्तगाल, अफ्रीका, ईस्ट-वेस्ट-साउथ-नार्थ इण्डीज़ के विचित्र वेश में, विचित्र आकृतियों में, अपने विचित्र से—विभिन्न से—रंगीन झंडे फहराते—कारों में, पैदल भी, ठसकते निकलते चले जाते हैं।

जलयान, थलयान, वायुयान, शिप, हवाई जहाज़, कार, ट्रैक्टरों से लेकर सूई तक की दूकान इसी ग्रोडियन के इर्द-गिर्द—कनाट-सर्कस के चक्कर में विद्यमान हैं।

चीनी, जापानी, देशी, विलायती अनेक होटल, रेस्ट्रां, चाय, काफी, आमलेट, घासलेट, नान, चपाती, गोशा, रोशा, डोसा, शोरबा, मटर, पनीर, टमाटर, आलू, रतालू ही नहीं, बागबाज़ार के रसगुल्ले, बनारसी बरफी, आगरे की दालमोठ, बम्बई का चिवड़ा, दिल्ली का सोहन हलवा और न जाने क्या-क्या, कितनी-कितनी जानी-भूली चीज़ें—इसी कनाट-सर्कस के ओडियन के सामने, पीछे या बगल-बगल हैं।

साड़ी-ब्लाउज़ों के डिज़ाइनों और कटिंग ने अजन्ता-एलोरा की कलाकृतियों में उभरे वक्ष और नितम्बों के खुलाव को भी इसी ओडियन के जलवायु ने मात दे रक्खी है।

और यह ओडियन, यह सब का केन्द्र है। यहीं आसपास कहीं प्रेम—इठलाता है, इतराता है—चरम-तृप्ति प्राप्त करता है। कहीं मादकता झूमती है, यहीं कहीं यौवन झुकता है, कहीं प्यास बुझती है, कहीं अतृप्ति उभरती है, कहीं अनुराग उमड़ता है, कहीं प्रणय प्रकाशित होता है, कहीं दबकर विरह करोंचता है; कहीं प्रारम्भ और कहीं अन्त भी।

मिलन का सौरभ, प्यार का उल्लास, अंगड़ाइयों का लोच, नींद की दबन, श्वासोच्छ्वास की तपन, गात की अरुणाई, उसका अंगार—उसकी शीतलता—इसी ओडियन के घेरे में—निकट या दूर न जाने कितने पाते या खोते हैं।

यहां जब धूप निकलती है तो जागरण संदेश के साथ-साथ मानव की चेतना और व्यस्तता का हिमालय सामने आता है—यहां जब चांदनी छिटकती है तो मानव की कल्पनायें, भावनायें, वासनायें, यातनायें पलती, पनपती और विलीन होती हैं। दिन निकले आफिसों के क्लर्कों की साइकिलों की घंटियां रुक नहीं पातीं और दिन डूबे जब आफिसरों की कारें हार्न के शोर में कतारें बनाती हैं तो लगता है—भारत में भूख, रोटी और शोक-दारिद्रय कहां ? कैसा ?

और सच—यहां श्रमिक का वह रौरव नहीं दिखता जो लाल झंडे की चीख में विश्व को नंगा-भूखा मानकर भी कारों में लगा घूमता है।

किन्तु लगता है—यहां सब समान हैं—यदि अमेरिकी-डालर की चमक है तो कम्यूनिस्टों के मूक व्यापार—मूक प्रचार—दुनियां की चप्पा-चप्पा भूमि और जलवायु पर पंजा फैलाने की अखण्ड क्रान्ति की कड़क और कसक भी यहीं है।

'अमेरिकन रिपोर्टर' के साथ-साथ रूसी-चीनी समाचार भी स्वच्छन्दता से यहां छप-छप कर औरों को छाप रहे हैं। और इन्फर्मेशन डिवीज़न के विभिन्न प्रकाशन भी यहीं बड़ी-बड़ी तनख्वाहें बांट-बांट कर,

बड़ी-बड़ी पुकारें उठाकर भी उसको नहीं दबा पाते जो इन 'लाल-समाचारों' में फस कर छप रहा है।

तिरंगा—अटल—अचल—उच्चतम लहरा रहा है—किन्तु उसकी मनभावनी हरीतिमा, उसकी निर्मल, स्वच्छ, धवलता उसकी बासन्ती निखार—विश्व के किस कोने को भाई है ?

इंगलैंड उसी की दबक से भागा। अमेरिका उसे चाहकर भी नहीं चाहता। रूस वह मुँह बायें—लालिमा में—दूषित रक्त का-सा कलुष छिपाये—छिपकर क्रियाशील है—सुख-समृद्धि-सम्पन्नता, स्वच्छता-धवलता और शान्ति तथा आनन्द को पी जाने के लिये। जो रोटी में भूखा तड़प रहा है उसको वह वैसे रोटी दिलाना चाहता है जैसे मार्क्स कहे वैसे नहीं जैसे भारत की प्राचीनतम सभ्यता और संस्कृति के मौलिक साम्यवाद में गान्धीजी दिलाना चाहते थे।

और पाकिस्तान, टर्की, इजिप्ट—इनका भौतिक भेद—जन्मजात ईर्षालु-प्रवृत्ति, तथा विश्व के समस्त देश—इन्हीं-किन्हीं के प्रश्रय में, इन्हीं-किन्हीं के घेरे में अपने दृष्टिकोणों को उतना ही समेटते व पसारते हैं जितने प्रादेश पाकर उनकी सीमायें टिकी हैं।

किन्तु—कनाट सर्कस ने—विश्व के प्रत्येक घेरे को—एक स्थान पर लाकर—दिल्ली को विश्व का केन्द्र-स्थल बना दिया है। भावी यदि संसार की सभ्यता, संस्कृति, साहित्य व राजनीति को यों ही केन्द्रित किये रही तो भारत की केन्द्रीय सत्ता की दीवारों पर टंगी गान्धीजी की तस्वीरें पुनः हँस उठेंगी उसी भांति जिस प्रकार कभी उत्फुल्ल में गान्धीजी अपनी हास्य-मुद्रा में संसार को जीवन-सन्देश देते थे। आज अभी वे तस्वीरें—तपन में, कसक में रो रही हैं, अन्तर्मन में किन्तु वैसे नहीं जैसे वाह्य-तड़प की अन्तरङ्ग-डाह में मार्क्स के उपासक रोते हैं। उसके साहित्य सृजेता, उसकी कलम के मजदूर—सीधा 'एम-ओ' पाकर या पार्टी-आफिस में हरे—हरे गिनकर भी मगरमच्छ का-सा रुदन मचाये

गान्धीजी की तस्वीरें उतार कर मार्क्स और लेनिन की तस्वीरें टांगने को गतिशील हैं—प्रगतिशील हैं।

वे ही जो ठहरे प्रगति के ठेकेदार—प्रगतिशील हैं न। और उनका सृजन वही है जो अन्य सभ्यता, साहित्य, संस्कृति, कल्प और राजनीति का ध्वंस !

और यह न अपने सर्जनहार को मानते हैं—न खुदा को मानते हैं न बीज या बीज की उत्पत्ति में ही विश्वास करते हैं। नियति को ये नहीं माते। अपने जन्म और अस्तित्व को भी ये भोग-नियोग के आनन्द मनोरंजन के पश्चात् की एक आकस्मिक घटना मात्र मानते हैं। शेष ये केवल टंड्रा की जलवायु में पनपना व पलना चाहते हैं।

जो हो—भारत इस चीख-पुकार और खिन्नता-विभिन्नता से दूर है। वह सम-द्रष्टा रहा है और है।

और ओडियन—में भी सभी झंडे फहराते रहते हैं—यहां हालीवुड की फिल्में भी देखी जाती हैं और 'रशन फिल्म्स' भी। और यहीं आज मिस मोलिनी का 'डान्स' कुछ क्षणों में ही प्रदर्शित होने को था। ओडियन सदैव की भांति आज भी केन्द्रों का केन्द्र बन चुका था और दिनेश का भी।

दिनेश आज कई दिन से मोलिनी-मय हो रहा था। दिवस के चौबीस घंटों में—वह निरन्तर मोलिनी के सामने रहा है और उसकी कल्पना में उसका रूप, यौवन, विलास, उसका शरीर—नग्न, नाचता, थिरकता, मदमाता, इठलाता उसके समक्ष।

आज उसके गालों पर पड़े ट्रेन के तमाचे ने चुम्बन का स्थान पा ही लिया है। आज तमाचे से उभरी प्रतिक्रिया के स्थान पर—संसर्ग की सिहरन करवटें ले रही है। लता के व्यंग्य खो चुके—लता की छाया अस्थायी रूप में दूर हट चुकी है।

और बड़े से बड़े लोगों के बीच में सबसे आगे की सीट—दिनेश की थी।

इस धूमधाम को शान्तिस्वरूप के परिवार ने भी देखा । सर्वाधिक लता ने देखा । इन कई दिवसों में अनेक सूचनायें अनेक प्रकार से लता के कानों में गूंजी थीं कि आजकल दिनेश की गतिविधि क्या है ? कोई नई डान्सर आई है—श्रीमान् कई दिन से उसके ही कमरे में जमे हैं—यहां आने की भी फुर्सत नहीं मिली है—

और—वह विचित्रता से सोचती गई—कितनी जल्दी पहुँच हो जाती है—श्रीमान् लोगों की । और समझ में नहीं आता ये—कब तक—कहां तक—कितना पहुंचते चले जायेंगे—कोई अन्त है भी या नहीं । और जब एक ओर टिकाव नहीं है तो ऐसों का विश्वास—कभी नहीं—कदापि नहीं—होना ही नहीं चाहिये । ऐसों का संसर्ग उन्हीं से ठीक है जिनकी जीवन-चर्या ही वैसी हो, जिनके उद्देश्य ही वैसे हैं''''मैं—किन्तु मैं अब अपने को रोक ही कहां पा रही हूँ—और तभी उसे दिनेश के द्वारा गाई वे लाइनों याद हो आई—

बहुतेरे मदिरालय देखे,
बहुतेरी देखी हाला,
भांति-भांति का आया मेरे
हाथों में मधु का प्याला,
एक एक से बढ़कर सुन्दर
साक़ी ने सत्कार किया
जंची न आंखों में पर कोई
हाय, प्रथम सी मधुशाला ।

'प्रथम-सी' पर लता और अधिक उद्वेलित थी । व्यक्ति के आत्मार्पण में भी तालिका—पहला—दूसरा—पांचवां और एक, दो, तीन—सात''''यह प्रेम कदापि नहीं—प्रणय अनुराग कदापि नहीं—यह तो सीधा-सादा शरीर का व्यापार है ।

ओडियन में उसने देखा आगे की पहली पंक्ति में दिनेश बैठा है । शान्तिस्वरूप, स्वरूपरानी व लता पीछे की श्रेणी में बैठे थे । और

लता ने सोचा—उसे प्यार—विराग—विषाद इस दौड़-भाग में पीछे ही रहना चाहिये। अच्छा है—उसे इससे दूर ही रहना होगा—वह रहे यदि रह पावे।

तो,मिस मोलिनी—एक गोअन सुन्दरी थी। इस नवीन नृत्य-तारिका ने इधर विशेष हलचल मचाई थी। जहाँ भी उसके नृत्य हुये—जनता ने मुक्त होकर सराहा। पर्स के नोटों ने सराहा। साथ ही मन के किशोरों ने सराहा। तन के युवकों ने सराहा।

मिस मोलिनी प्राचीन व आधुनिक, पाश्चात्य व भारतीय, शास्त्रीय व लोक—सभी प्रकार के नृत्य—कला—प्रदर्शन में बेजोड़ थी।

उसकी निखरती—उभरती—इठलाती—मचलती—बलखाती—आयु बीस के घेरे में थी।

लखनऊ प्रवास में—जब अक्षयबन्धु भी लखनऊ के दावेदार थे—मोलिनी का हठात्-परिचय अक्षय से हो गया। नृत्य-प्रदर्शन के साथ-साथ तभी अक्षय के साधन से मोलिनी ने कुलीन-कुमारों को अपने मांसल उरोजों और अंग-अनंग के ठोस दर्पण में घेरा था और तब एक दिन वह बम्बई चल दी थी।

इस बार वह पुन: भारतवर्ष की भूमि पवित्र करने गोआ से बम्बई की धुरी मिलाती चली आई थी। और वही फ्रान्टियर जिधर एक ओर मिस मोलिनी एण्ड पार्टी को लाया था वहीं दूसरी ओर दिनेश अक्षय एन्ड को० को भी। तब दिनेश व मोलिनी का कम्पार्टमेंट एक हो गया और पार्टी तथा अक्षय एक कम्पार्टमेंट में आये। वहीं अक्षय को मोलिनी के दिल्ली आगमन की सूचना मिली।

किन्हीं विशेष कारणों से अक्षय मोलिनी को दिनेश को न दिखा कर अपने किन्हीं अन्य उपासकों को भेंट करना चाहता था जिनकी जेबों में दिनेश से कहीं अधिक गर्मी थी।

किन्तु अनायास—उस होटल में दिनेश की भेंट के पश्चात् दिनेश ने मोलिनी को घेर लिया और अक्षय के कार्य-क्रम गड़बड़ हो गये।

अपनी सीट पर बैठे हुये लता, नृत्य-सुन्दरी को देखते ही जैसे चौंक पड़ी। ओ! यह तो—वही है जिसके साथ उसने बम्बई से दिल्ली तक यात्रा की थी। तो यह डान्सर है। तो—वह तमाचा—उसकी झल्लाहट में मन व मस्तिष्क—अब तक तिलमिला रहा था, किन्तु....

किन्तु क्या? अनेक बार तेज आँखों के अङ्गार—प्यार और सहवास के दीपकों में बदल जाते हैं।

और कम्पार्टमेंट की उस घटना के पश्चात् लता तो निरन्तर—अपने आराध्य के प्रति उदासीन है, सजग भी है, विचारशील भी है और कर्तव्याकर्तव्य की शिला पर खड़े होकर—चारों ओर देखकर ही कुछ निर्धारित करने की स्थिति में वह अपने आप को पा रही है। किन्तु दिनेश को क्या हुआ? मानापमान की गहराई ने तो उसे और खाई में ला पटका। वह दूर क्या? उसी में डूब गया।

सराहना, उत्साह, मनोरंजन व आनन्द के पश्चात् नृत्य कार्यक्रम समाप्त हुआ तो उस भीड़भाड़ में लता को लगा जैसे वह बड़ी खिन्न है। दिनेश ने नृत्य-समारोह में आने का कार्यक्रम यदि उसके साथ नहीं बनाया तो वही कहीं किनारे से बढ़कर उसके पास जाकर उसे टोक दे। किन्तु तब उसने सोचा—उस दिन पिताजी ने—दिनेश से कटु-व्यवहार किया था? क्यों? वह भी जानती थी। तो लगता है दिनेश ने इसी कारण बंगले आना-जाना बन्द कर दिया है। पर दिनेश तो निर्भीक है; वह उसकी स्मृति में और भी खिन्न हो उठी।

× × × ×

उस दिन जब लता ने सुना कि मिस मोलिनी के साथ दिनेश को पिताजी ने मेरठ के रेसकोर्स में भी देखा था तो उसने अपने भाग्य को सराह लिया।

लगभग एक सप्ताह बाद—लता ने देखा दिनेश का नौकर रामू—बरामदे में खड़ा उसी को पुकार रहा है। तब वह उदासी-सी किन्तु उत्सुकता में उसके पास आई।

रामू सूचना देकर लौट गया कि दोपहर को दो बजे बाबू से फोन करके बात कीजियेगा।

और लता अत्यधिक अधीर हो उठी जब उसने सुना कि दिनेश बीमार है।

दिनेश के प्रति अनास्था के तर्क में तैरता उसका मन अनायास दिनेश की स्वास्थ्य-कामना में चंचल हो उठा। यह मन की कैसी-सी स्थिति है? मन की यह कैसी-सी अस्थिर गति है? लता सोचकर भी नहीं सोच पाती।

वह क्या करे—फ्रायड के वैज्ञानिक विश्लेषण को यहाँ ओढ़ ले या मार्क्स के भौतिकवाद को अपने नीचे बिछा ले। उसकी समस्या तो संसार से निराली ही थी, न। और समस्या ठहरी—प्राणों और जीवन की स्वाभाविक गति और प्रवृत्ति। उसकी समस्या का निवारण न फ्राइड ने बताया न मार्क्स ने ही। और जब लता की समस्या इनसे हल न हो पाई तो इन दो बड़ों की आस्तिकता में पिसकर संसार-भर की कोई समस्या हल नहीं हो सकती।

तो—दो बजे तक वह कैसे समय व्यतीत करे? वह छटपटा रही थी। अभी ही क्यों न फोन कर ले? फोन नम्बर उसे याद था। अनेक बार पिताजी के पास फोन आता था। वे भी उसे फोन करते थे। किन्तु वह फोन कैसे करे? उसके यहाँ का वातावरण प्रतिकूल हो उठा है। पिताजी के निर्देश सामने आ चुके हैं।

ऐसी-सी परिस्थितियों में वातावरण से दूर होने को जी चाहने लगता है। परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाना जब सामर्थ्य के परे हो जाता है तो स्वजनों के प्रति विराग-सा होने लगता है। उनसे आँख बचाने को जी चाहने लगता है। एकान्त सूझता है। एकान्त में तस्वीरों

से मन बहलाने को जी चाहने लगता है। एकान्त वार्ता को मन छटपटाने लगता है। तब युक्तियाँ बनती-बिगड़ती हैं।

पिताजी आज बाहर गये थे। बीमार को देख आने की तड़पन में उसने चुपचाप ड्राइवर को कार लाने का आदेश दे दिया।

"बाज़ार जा रही हूँ," कहकर लता चल दी।

किन्तु वह वहाँ जायेगी कैसे? दिनेश के घर वाले उसे देखेंगे—क्या कहेंगे? और—आज पहली बार उसे ध्यान आया—कोई कह रहा था। दिनेश की पत्नी भी है। तो क्या वह पागल तो नहीं होगई। एक पत्नी है—बाज़ार है—अन्य बहुतेरे सम्पर्क हैं—और इतनी सूचनाओं के पश्चात् भी वह कार लेकर उस व्यक्ति से मिलने जाना चाहती है जिससे वह प्रणय-अनुराग न करके भी कर रही है—करना चाहती है। किन्तु वह अवश है।

हाथ-पैर पटकते वह बंगले लौट आई। बंगले पर उसे सूचना मिली पिताजी आगये हैं। कार की प्रतीक्षा कर रहे थे। तांगे से कहीं गये हैं तो उसने कार की खिड़की को इतनी ज़ोर से बन्द किया कि लगा कार उलटकर दूसरी ओर जा गिरेगी।

आज प्रथम-बार लता ने अपने पिताजी की मध्याह्न निद्रा का लाभ उठाना चाहा। वह नींद जो पिताजी व अम्माजी को दोपहर में सोने को बाध्य करती थी लता के जागरण को विवश करती रही और आकर्षण व साक्षात्कार की मनसिज तन्द्रा में, उसने, दोपहर की चटखती धूप में, मन की शान्ति पीने के लिये फोन मिला दिया।

भ्रान्तियाँ—बनें, बिगड़ें—मन की तड़प नहीं रोक पातीं। दिनेश के प्रति सामने आई भ्रान्तियों को—लता अब तक वैसा ही मानती चली आई—उसने उन्हें झकझोर डाला और प्यार भरे मन से उसने चाव सहित फोन का चोंगा कानों पर टिका लिया।

एक ओर फोन की किर्र-किर्र व दूसरी ओर फोन की घंटी ने कानों को पास ला दिया। मन के उभार को ओठों से मिला दिया।

"हल्लो"; के प्रारम्भ ने सायंकालीन निमन्त्रण व कार्यक्रम निर्धारित कर दिये।

"और यह बीमारी'''' ?"

"बिना बहाने, तुम फोन करतीं कैसे ?"

लता मुस्करा दी।

और दिनेश बोला—"तो तुम बीमारी की बात सुनकर भी घर नहीं आईं। मैंने सोचा था तुम फोन नहीं करोगी। स्वयं आओगी। किन्तु'''' ।"

"किन्तु''''मैंने ठीक ही किया। कृपा करके इन प्रयोगों को औरों के लिये रखिये। मुझ पर तो इनके प्रयोग न कीजिये, श्रीमान् जी।"

'तो शाम को'''' ।"

"मैं नहीं आऊँगी।"

किन्तु बड़ी अनुनय-विनय के उत्तर में लता ने शाम को अपने छोटे भाई पुष्पेन्दु के साथ यमुना-तट पर आने का वादा कर ही तो दिया।

चांदनी रात की छिटकी मादकता में दिनेश व लता—देर तक नौका-विहार के सुखद आनन्द को—पलक मूंदे, मन खोले, तन के अतिरेक को दाबे—पीते रहे।

कभी दिनेश—यमुना के मोहक जल के छींटे लता के सुनहले मुख पर उछालता तो लता मुस्करा कर रह जाती। तब जब लता की पतली उंगलियों से उछल कर जलबिन्दु—दिनेश के माथे पर टपकते तो वह कुलबुला उठता। दिनेश अनेक बार उभरा, बढ़ा किन्तु लता के स्वाभाविक संकोच ने उसे दाब लिया। पुष्पेन्दु की ओर—जो ८ वर्ष का एक नन्हा-मुन्ना उसी की भांति रूपवान बालक था—लता संकेत करती और अनचाहे, दिनेश को शान्त होना पड़ता।

.यहीं दिनेश गुनगुना उठा.........

जलतरंग बजता, जब चुंबन
करता प्याले को प्याला....
....
....

बने पुजारी प्रेमी साक़ी
गंगाजल पावन हाला
....

अंधकार है मधु विक्रेता
सुन्दर साक़ी, शशिबाला,
कर किरणों में जो छलकाती,
चलती ज्योत्स्ना की हाला
....
....

तारकदल से पीने वाले
रात नहीं है, मधुशाला।

"बहुत देर हो गई है—चलिये, अब नाव लौटाल लीजिये।" लता की पलकें बन्द थीं। उस अमित सरसता में वह चाह कर भी रुकने में असमर्थ थी। उस नैसर्गिक विलोड़न में वह अतिरेक की सीमाओं को लांघना चाहकर भी उसकी परिधि मन तक रखना चाह रही थी। तन की सीमाओं के बांध तोड़ने के ध्यान मात्र से वह कांप जाती। न जाने क्यों? और उसकी-सी अनेक इस डर रूपी बांध से बच भी जाती हैं—बहुत-सी लांघ भी जाती हैं।

तभी हठात् दिनेश आगे बढ़ा। उसने अनायास लता की कमर में हाथ पसार दिया और दूसरे हाथ से वह लता के अनेक अंगों पर कंपन उत्पन्न करता रहा।

अपने अलसित नेत्रों से—छिटकती चांदनी में—निखरे लता के फेनिल से दुग्ध रूप को पीते हुए दिनेश ने लता के रुपहली गुलाबी ओठों को चूमा और तब उससे पृथक होते हुये वह कह गया—"नाव, ओफ। नाव लौटालो ? मत कहो नाव वाले से कुछ। छोड़ दो। बहने दो। इसकी अबाध गति—उसका ध्यान भी मत करो।.........और ए नाव वाले। मत छुओ इसके डांडे।.........कहो लता, स्वयं कह दो। कह दो। स्वीकृति दे दो न।

कुछ अंधेरा कुछ उजाला—क्या समां है,
कुछ करो इस चांदनी में—सब क्षमा है।"

"नहीं.........नहीं" कहते हुये लता ने दिनेश के आवेश को हठात् अपने निर्बल हाथों से दूर रखना चाहा किन्तु दिनेश ने उसे अपनी गोद में भर लिया और देर तक.........

शीतलता में, पुष्पेन्दु—निकट ही सो रहा था।

लता निरन्तर डोलन का अनुभव करते हुये भी सहम रही थी, कांप रही थी। उस डर—उस घवड़ाहट और उन अनुराग भरे क्षणों में भी उसे घर जाना ही था।

और उस सौम्य सुमधर व मुखरित चांदनी में—घवड़ाहट की सुन्दर रेखाओं को आकृति में झांकते हुये दिनेश बरबस और उलझ रहा था। संसार और तब लता के वस्त्रों के सारे बन्धन वह नोच डालना चाह रहा था—आतुर, बावला, उद्दण्ड-सा होकर वह उभरता—लता को समेटता। लता साहचर्य के अतिरेक में, कल्पनातीत जागरण में डूब रही थी।

और तभी अनायास दिनेश की मदहोशी में चेतना की दूसरी लहर दौड़ी। उसने न जाने क्या सोच कर नाव वाले को आदेश दिया—"नाव लौटा लो।"

नाव की दिशायें लौट पड़ीं। दिनेश—नाव की छपछप में—लहराते जल के मूक संवेदन में गा उठा—

बनी मुरलिया साक़ी आई,
साथ लिये कर में प्याला,
जिनमें वह लहराती आई,
मादक स्वर लहरी हाला।

योगिराज के पास पहुंच कर
उन्हें बनाया नट नागर,
....
....

रागनियां बन साक़ी आईं,
भर कर तारों का प्याला।

नाव किनारे आ लगी। लता ने अपने को समेटा। अपनी नोकीली उंगलियों से बालों को संवारा, इधर-उधर करके अपने वस्त्र संभाले और उठ खड़ी हुई। दिनेश ने चलते-चलते उसकी बाहें चूमीं। लता ने पुष्पेन्दु को जगाया। वह बिलखता सा—वातावरण में बेखबर-सा—उठा। ठुनुक-ठुनुक करता लता के साथ हो लिया।

लता ने एक मदिर-मुस्कान दिनेश पर फेंकी और एक छलांग के साथ उसके पैर घाट की चट्टान पर वैसे ही टिक गये जैसे अनुराग की अखंड शिला पर से झांकती कोई स्वर्ग-परी।

दिनेश नाव पर ज्यों का त्यों बैठा रहा और उसके ललचाये से नेत्र लता पर निरन्तर टिके रहे। तब लता ने कहा—"आप उठिये, चलिये न।"

"कहां ?"

"घर।"

"मेरा घर, वह है कहां ?"

"है, क्यों नहीं ?"

"सचमुच नहीं है—तुम चाहो तो एक नया घर बना दो, न।" और कहकर दिनेश वहीं तकिये पर सर दाब कर चित लेट गया। उसने

अपना दाहिना हाथ झटक कर नाव में बिछी सफेद चादर पर पटक दिया और अपने पलक मूंद लिये।

लता के पग आगे न बढ़ सके। पुष्पेन्दु को वहीं खड़ा करके वह पुनः नाव पर आई और दिनेश के नेत्रों को पुचकारते हुये वहीं पास बैठ गई तथा देर तक दिनेश के पलकों, कपोलों, बाहों पर हाथ फेरती रही।

और दिनेश—वह चतुर—प्रणयी के सफल अभिनय जानता था। कब कैसे वह सम्मोहन की. गहराई को आंक सकता है—वैसी-सी परीक्षायें भी समय समय पर लेते रहने का उसका अनूठा व्यवहार चला करता था। कहां प्यार की झोली भर देने से, कहां अनुराग—विराग के कड़वे-मीठे घूंट पिलाने से, कहां डरने या डर दिखाने से, कहां हंसने या रो पड़ने से—कार्य-साधन सम्भव है—वैसी-सी क्रियायें करते रहने में वह सफल रहता था।

और लता, दिनेश को किंचित हिलाते हुये बोली—"उठिये, म। बात क्या है ?"

"यही कि अभी मत जाओ", कहकर दिनेश नें पुनः लता को बाहों में भींच लिया।

एक कराह के साथ अपने को छुड़ाते हुये लता ने कहा—"अच्छा चलिये, कल इसी समय.........यहीं।"

दिनेश यही तो चाहता था। आगामी कार्यक्रम निर्धारित हो उसके लिये उसने चार आंसू बहा डाले थे।

दिनेश—उठा। लता के कन्धे पर अपना हाथ टिकाये हुये नाव के दोनों ओर से आकर मिले—किनारे की उस नोकदार उछाल पर आ खड़ा हुआ—तब लता और उसके अनन्तर उसका हाथ थामे हुए दिनेश भी नाव से नीचे उतर आया

———

१२

सांध्यकालीन बैठकें पुनः जमने लगीं।

ग्रीष्म से उत्तप्त दिन के अनन्तर, हरीतिमा व भीगी मिट्टी की शीतलता में शान्तिस्वरूप की मित्र-मण्डली, पास-पड़ोस की कुछेक स्त्रियाँ—कुछ पुरुष भी व परिवार; छिटक-छिटक कर बैठ जाता और तब दिनेश अपनी सुललित तानें छेड़ देता।

उस दिन दिनेश सुनाने लगा—

मेरे अधरों पर हो अंतिम
वस्तु न तुलसीदल, प्याला,
मेरी जिह्वा पर हो अंतिम
वस्तु न गंगाजल, हाला,

मेरे शव के पीछे चलने
वालों, याद इसे रखना—
'राम नाम है सत्य' न कहना,
कहना सच्ची मधुशाला।

और दिशायें—"वाह-वाह" से प्रतिध्वनित हो उठीं। दिनेश इठला-इठला कर झूम-झूम कर गाता रहा—

मेरे शव पर रोये, हो
जिसके आंसू में हाला,
आह भरे वह, जो हो सुरभित
मदिरा पीकर मतवाला,

दें मुझको वे कंधा, जिनके
पग मद-डगमग होते हों

और जलूं उस ठौर जहां पर
कभी रही हो मधुशाला।

और सचमुच सब के पद-मद, डगमग हो रहे हों। जैसे सब उसी मस्ती में झूम रहे हों। जैसे वातावरण मदिर हो उठा हो। महिलायें—जिनमें आसपास के बंगलों की अनेक नवोदित-युवतियां थीं—जिन्होंने अनेक बार यह बड़ाई सुनी थी कि दिनेश 'मधुशाला' को अपने स्वरों में बहुत सुन्दर गाता है—पुलक में आनन्दित हो उठीं—उसकी लय में वे नाच उठीं। उपस्थित समुदाय जैसे उसी अबाध गति में निरन्तर सुनते ही रहना चाहता हो। तब वह—कहता ही चला गया।

और चिता पर जाय उंडेला
पात्र न घृत का, पर प्याला।

और महिलाओं में एक फुसफुसाहट घूम गई।

"क्या बात है ?" के उत्तर में दूसरी ओर से आवाज़ आई—"दिनेश बाबू को तो बड़े मीठे गीत आते हैं। यह क्या शव और चिता गाने लगे।"

"ओ....हो....,अच्छा, अच्छा" कहकर शान्तिस्वरूप ने दिनेश से आग्रह किया—"भई, वही कुछ सुनाओ।"

दिनेश—जैसे उसने वातावरण को अपने में केन्द्रित कर रक्खा हो—ज्यों वह आकर्षण को समेट लेने की कला में विचित्र हो—वह कनखियों से अपने आसपास के उस रूप-सागर को देखता, सर्वाधिक

लता को देखता रहा तब कह उठा—"अरे साहब, खामोशी से सुनियें तो.... ।"

और वह सुनाने लगा—

घंट बँधे अँगूर लता में
किंतु न जल हो, पर हाला,
प्राणप्रिये, यदि श्राद्ध करो तुम
मेरा तो ऐसे करना—
पीने वालों को बुलवा कर
खुलवा देना मधुशाला।

एक अट्टहास से वातावरण गुंजित हो उठा। लजीली लता अपनी उस परिचिता को गुदगुदाने लगी जिसने अभी कुछ समय पूर्व कहा था कि मीठे-मीठे गीत सुनाइये।

इसी बीच पेय—शर्बत—आया और बर्फीले काँच के गिलासों में चारों ओर बँट गया।

और एक-एक घूंट की चुसकी लेते हुये दिनेश—स्वयं झूमता, औरों को झुमाता पुनः गा चला—

नाम अगर पूछे कोई तो
कहना बस पीने वाला,
काम ढालना और ढलाना
सब को मदिरा का प्याला।

"वाह-वाह भई वाह, बच्चनजी ने भी पीने-पिलाने के लिये कैसी-कैसी सूक्तियां लिखकर रस उँडेला है जीवन-मदिरा के प्याले में.... ।" एक श्रोता ने अत्यधिक प्रभावित होकर कहा।

"कभी बच्चनजी के मुंह से सुनी है मधुशाला....," शान्तिस्वरूप ने जैसे गर्वोन्नत होते हुये कहा—"मैंने तो सुनी है—क्या कंठ पाया है उन्होंने भी ?"

"दिनेश उनको 'टू कापी' करता है, भाई साहब," शान्तिस्वरूप के एक मित्र ने कहा।

"हाँ, आगे सुनाओ जी दिनेश।"

और दिनेश ने अंतिम पंक्तियां भी जोड़ दीं।

जाति, प्रिये, पूछे यदि कोई,
कह देना, दीवानों की,
धर्म बताना, प्यालों की ले
माला जपता मधुशाला।

वातावरण में एक मूक-नर्तन गूंजता रहा। सभी मधुशाला के रसमय आलावन में विभोर हो उठे।

इन्हीं रंगीनियों में दिनेश व लता का अनुराग—गहरे रंग पकड़ता गया; छटपटाहट बढ़ती गई; मिलन व्यापार पनपते गये।

× × × ×

शान्तिस्वरूप की मधुशाला गोष्ठी में एक थे—दीवानजी। दीवानजी बड़े हँसोड़ व काव्य-प्रेमी भी थे। हँसने-हँसाने के अतिरिक्त कभी गम्भीर विचारक या चिन्तक की भाँति वे गूढ़-तथ्यों में भी पैठ जाते। जब-जब भी मधुशाला की बासन्ती-फुहारों से जहाँ एक ओर सरसता का साम्राज्य फैलता वहाँ दूसरी ओर दीवानजी मधुशाला के दार्शनिक तत्व-विवेचन में स्वयं उलझते व अन्य लोगों को भी अपनी विचारधारा के पुष्ट मतों की अभिव्यंजना में गम्भीर तार्किक प्रसंग छेड़ देते।

वे कहा करते—

क्षीण, क्षुद्र. क्षण-भंगुर, दुर्बल,
मानव मिट्टी का प्याला,
भरी हुई है जिसके अन्दर,
कटु-मधु जीवन की हाला,

मृत्यु बनी है निर्मम साकी
अपने शत-शत कर फैला,
काल प्रबल है पीनें वाला,
संसृति है यह मधु-शाला।

यह अखिल प्रकृति मधुशाला बनकर झूम रही है। पुरुष बनकर मायारूपिणी चंचला साकी बाला उसके सर्वत्र नाचती है। वह अपने हाथों से हाला भर-भर कर उसके अधरों में लगाती है और वह अनंत काल तक अनंत पिपासा से उसे पीता जाता है। और वह मानव रूपी मधु—प्याला—अत्यन्त क्षीण है।

"द वाइन आफ लाइफ, कीप्स ऊजिंग ड्राप वाई ड्राप।
द लीव्स आफ लाइफ, कीप फालिंग वन वाई वन।"

दीवानजी के इस प्रवचन पर यदि कोई मुस्करा कर उन्हें उखाड़ना चाहता तो वे और जमकर अपनी बात प्रकट करते—

"क्या हंसता है रे मूर्ख! जल-थल, गगन-पवन, वन-उपवन, सर-सरिता, मिलन-विरह, प्रणय-संघर्ष, आशा-निराशा, जन्म-जीवन, काल और कर्म सभी वस्तुएँ जिनका अस्तित्व इस विश्व में है, आज हाला-प्याला-मधुशाला में आभासित होते हैं।

और यह कोई ~~ट्रैट~~ नहीं है कि गा लिया—सुन लिया और वाह-वाह, वाह मधुशाला!

कितने अर्थों को संकेतों
से बतला जाता साक़ी,
फिर भी पीने वालों को है
एक पहेली मधुशाला।

और दीवानजी के इस आध्यात्म-तत्व-निवेदन के अनन्तर भी मनोरंजन की प्रधानता में मधुशाला की वाह्य मादकता से ही वातावरण ओत-प्रोत रहता।

इस प्रकार की गोष्ठियां अनगिनत हुईं। होली के फाग में बंगला लाल हो उठता। बसन्त में वासन्ती मादकता सबको परागमय—पीत-रस देती। दीवाली में सबके नयन-दीप चमक उठते। शान्तिस्वरूप के यहां नित होली, नित बसन्त व नित दीवाली दीखती। मधुमय सुषमा के इन झकोरों ने लता की मांसलता में निरन्तर वृद्धि की। उसके स्नेह—व्यवहारों में नित-नूतनता आती चली गई। उसके अनुरागमय क्रिया-कलापों में सजीवता आती चली गई।

बंगले में ड्राइङ्गरूम की भव्य सजावट के बीच—अनेक बार ४-६ या १० मित्र बैठते-उठते। कहकहे, हँसी, मज़ाक चलता। स्वरूपरानी आतिथ्य-सत्कार, पान, इलायची, पेय—खाद्य के सरंजामों में बंधी रहतीं। शान्तिस्वरूप ताश के पत्तों को फैलाते—समेटते। वार्तालाप अथवा वादविवाद भी होता रहता। इस सबके बीच दिनेश भी वातावरण को गुंजरित रखता। वहीं स्वरूपरानी भी आ बैठतीं और सरस हास्य-व्यंग्यों में भाग लेतीं। उनके साथ बच्चे कमरे में आते और उछल-कूद मचाते। लता सोफे पर आ बैठती। कनखियों से दिनेश को झांकती और तब उठ कर एक ओर को चली जाती। आमोद-प्रमोद का एक प्रवाह-सा तैरता।

इस सबके बीच प्यार की तरकीबें चलतीं, स्नेह की तरतीबें चलतीं, वार्तालाप में दिनेश—बड़े ढंग से, कभी छेड़ देता। कभी नेत्रों से मौन-सम्भाषण हो जाता। तभी कभी दिनेश की ओर से सिगरेट का लुढ़कता हुआ डब्बा चुपचाप लता के पैरों को आ चूमता। लता उसे उठाती। उसके अन्दर रक्खे पत्र को चुपके से निकालती और उठकर भाग जाती।

सिहरते मन से वह एक साथ सब कुछ पढ़ जाती। प्रत्युत्तर में स्वयं कुछ लिख डालती। बहुत कुछ लिख डालती। कागज को मोड़-माड़ कर दियासलाई की डब्बी में बन्द करती और तब लौटकर खड़े-खड़े, कभी बैठकर, कभी इधर-उधर दृष्टि दौड़ाते हुये दियासलाई दिनेश पर फेंक देती।

दिनेश उसे उठाता। तभी दिनेश अभी-अभी सुलगाई नई सिगरेट को ऐश-ट्रे में दाब देता। नई सिगरेट डब्बे से निकालता। छत पर निहारते हुये कहता—"जरा पंखा धीमा करो, तो।"

प्रकाश की लौ वहां घिर कर बुझती-सी प्रतीत होती। अनुराग की लौ को निर्जन-एकान्त चाहिये, न। वह उठता—पंखे की हवा में एक दो सीकें जानबूझ कर बुझ जातीं और वह बाहर चला आता। बरामदे के किसी कोने में जाकर कागज पढ़ता। भावी कार्यक्रम की स्वीकृति—अनुमोदन से हर्षित होता और पुनः आकर सबके बीच बैठ जाता। और इस तारतम्य में घंटों, समाज के बीच बैठे रह कर भी मौन—वार्तालाप—उसमें व लता में चलता रहता।

स्नेह की यह पंकिल धारा अबाध गति पर चल निकली। इसमें न कोई टोक थी न बांध।

सामाजिक वायुमण्डल में कसे रह कर भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की वैसी-सी इतिवृत्तियां पनपती तो हैं ही, कभी विलीन भी होती हैं। आवश्यकता के आधार पर भी कहीं समाज आंखें बन्द किये रहता है तो कहीं निरर्थक प्रलाप से तूफान उठाये रहता है। वहां भी व्यक्तियों के—समर्थों के अहं पर जब वैयक्तिक चोट लगे तब वह आवाज करता है अन्यथा समाज फर्श के पत्थर की भांति—टुकुर-टुकुर वह सब निहारता रहता है जो उसके कोष में पापाचार, अनाचार, अवैध अथवा अनैतिक है।

ऐसी-सी सामाजिक-पुस्तक में प्रेम की परिभाषायें भी युगल-प्रेमियों के बीच विचित्रता की ऐसी-ऐसी तस्वीरें प्रस्तुत करती हैं कि लगता है—ये जो सामने हैं, यही वास्तव में प्रेमी-जन हैं शेष तो अभिनय के उपांग।

एक लम्बे अवकाश के पश्चात् अमिता ने लता को पत्र लिखा। लता पढ़ गई।

मेरी लता—

प्यार ! कैसी हो मेरी रानी ? नाग-पाश की जकड़न में कैसा-सा अनुभव कर रही है री बावली! यहां तो नाग-दंश के विषाक्त-प्रभाव ने जीवन ही बदल डाला। अन्त की घड़ियां गिन रही हूं। जब भी तार पाना—जान लेना मरी नहीं जी गई।

और बोल—इतना रम गई कि पत्र ही नहीं देती। देख—लगन, देवता और पुजारिनी की-सी रखना। कहे देती हूँ। प्रेम का वही वास्तविक व विवेकी स्वरूप है, लता। प्यास और तृप्ति की खोज में दौड़ने—लिपटने की चाह में माडर्न अभिनेता और अभिनेत्री न बन जाना मेरी रानी—नहीं तो मैं मर कर जिऊँगी तुम जीकर भी मरी रहोगी।

और मेरी—वह न पूछना न सुनना। मैं जैसी थी—मुझे प्रसाद ठीक मिल ही गया। मेरी कामना है मेरी-सी प्रत्येक को मेरा-सा ही फल मिले।

तो पत्र देना। उपदेश से रूठना तो मिलन-कार्य-क्रम की एक इकाई कम कर लेना—बस। मुझे सजा मिल जावेगी। माताजी को और सब भाई बहनों को नमस्ते।

निर्वासिता
अमिता

अमिता की अवस्था, गतिविधि व अन्तर में छिपी वेदना को लता एक विचित्रता से—इधर देख रही थी। वह कुछ समझ कर भी समझ पाने में असमर्थ थी। बस उसे लगता—अमिता किसी मानसिक उलझन में फंस गई है। तो वह क्या करे ? असहाय है।

अमिता को उसने उत्तर दे दिया और लिखा इस बार पठन के पश्चात् के ग्रीष्मावकाश में उसके पास न आने अथवा कहीं न जाने की जो उद्दण्डता उसने की है उसकी उसे सजा मिलेगी।

लता की फुलबगिया का माली नित-नूतन सुवास, नित-नूतन पराग, नित-धवल-अनुराग भरता चला जा रहा था। इधर दिनेश ने अपनी सारी व्यस्तता केवल एक ओर केन्द्रित कर ली थी।

दिन-दिन भर भेंट बनी रहती। और अब तक हिचक मन से उठ चुकी थी। किसी ने रोका नहीं। किसी ने टोका भी नहीं। शान्ति-स्वरूप का क्षणिक आवेश पूर्णतः समाप्त हो चुका था। उन्हें लगा उनके मन में भ्रम-वश कुछ आ गया था। कहीं कोई दोष तो उन्हें नहीं दीखता। और तब ऊपर की आँख से देखने पर पानी के साथ कीड़े भी पेट में चले ही जाते हैं।

लता व दिनेश का मन गहराई से यह मान बैठा था कि मिलन पूरी तरह अलग में हो। दर्शन दूर से किन्तु प्यार एकान्तिक हो—कोई जाने नहीं, कोई देखे नहीं, कोई सुने नहीं।

दिनेश की झिझक—वह वर्षों पहले—इसी प्रकार किसी बंगले में या सरे-बाजार खुल चुकी थी। लता—उसमें झिझक और घबड़ाहट का पर्याप्त अंश पहले तो रहा तदनन्तर प्रत्येक की भाँति उसने भी अपनी लगाम ढीली कर दी।

अब लता में छटपटाहट बढ़ती चली जा रही थी। वह प्रतिपल चाहती—मिलन। वह उनमें जी भर कर डूबी रहे। प्यार के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकार का स्वर उसे सुनाई ही न दे।

और अब लता सोचती रहती—घर की इतनी चहल-पहल में, इतनी-इतनी देर तक बैठे रहने में, छाया की भाँति मेरे चारों ओर घूमते रहने में उंगलियाँ बरबस उठेंगी। वैसा-सा अनुभव न होते हुये भी मन अन्दर से बोलने-सा लगता है।

वह सोच रही थी—घर वाले न सही क्योंकि वे आवश्यकता से अधिक उदार व आधुनिक भले ही हों किन्तु आने-जाने वाले, ये पास-पड़ोस वाले जरूर उचकेंगे। अतः उसके मन में यह उठता कि मिलन हो किन्तु घर से दूर, घरवालों से दूर।

शान्तिस्वरूप की दिनचर्या में मध्याह्न-विश्राम एक आवश्यक अंग था। कोठी का काम-धन्धा देखकर वे एक दो बजे बंगले लौटते। भोजनादि से निवृत होकर दो-तीन घंटे नियमित सोते। इस भोजन व विश्राम में स्वरूपरानी स्वभावत: सहयोगिनी रहतीं। वह क्रम जीवन के अनेक वर्षों से चलता चला आ रहा था। किन्तु तब बच्चे जो नन्हे पौदे थे अब बढ़ चले थे। उनमें नई शाखें झूमने लगी थीं। उनमें पुष्प और पराग लहलहा आया था। और जो पराग-मय बसन्त की खबर नहीं रख पाते उनकी पुत्री अथवा पुत्र उस वासन्ती-वायु-डोलन की फुहार से सिक्त हों, तो क्या आश्चर्य ?

शान्तिस्वरूप की नाते-रिश्ते की तरुण-रूपसियां, मित्र अथवा स्वजन आते—बंगले पर ठहरते। आतिथ्य-सत्कार पाते किन्तु शान्तिस्वरूप के उस अनिवार्य विश्राम में कभी कोई बाधा न होती।

इसी विश्राम-काल में एक छूट थी। एक स्वतन्त्रता, जिसका लाभ दिनेश के प्रोत्साहन से लता ने उठाना चाहा।

प्रारम्भ में दिनेश—उसी समय बंगले आता और वातावरण की नीरवता में लता के अंग-प्रत्यंगों को गुदगुदा कर लौट जाता। और उस खुली स्वतन्त्रता में बिना शोर किये, बिना हार्न दिये—उसकी कार लता के बंगले की चहारदीवारी से सट कर आ लगती। तब निश्चित कार्य-क्रमानुसार वह अपनी सुनहली आभा व सज्जित वेश-भूषा में—दिनेश के निकट—खुले यौवन की धूप बिखेरती—कार में आ बैठती। दिनेश की कार चल देती। वह ड्राइव करता—तब निर्जन सड़कों पर नगर के दूरस्थ प्रदेशों में, पास के कस्बों तक कार दौड़ जाती और घंटे दो घंटे में लौटती। कभी किसी एकान्त पार्क के हरे-भरे पेड़ की छांव तले—दुलार भरी मीठी बातें होतीं, अनेक भावी कार्य-क्रम बनते।

इस गति का पता किसी को न चल पाया। कोई उत्सुक भी न था। पास-पड़ोस के बंगलों की एक दो तरुणियों अथवा छरहरी छोकरियों ने

जाना भी तो लता के मृदु-हास व परिवार के सौजन्यपूर्ण व्यवहार में उपेक्षित ही बना रहा।

हां, इसका पूरा पता फाटक के चौकीदार व दोपहर की ड्यूटी वाले पहाड़ी नौकर को रहता। इसके लिये दिनेश आवश्यकता से अधिक चतुर था। दे-ले कर उसने उन लोगों के सहयोग को खरीद लिया था। और आज नमक की आस्था, स्वामी के प्रति विश्वास—बीसवीं सदी के इस संक्रान्ति-काल, इस युग-परिवर्तन में, इस सभ्यता व राजनीति की उधेड़-बुन में—स्वामी, कैसा हास्यास्पद-सा लगता है, सोचकर भी। किन्तु उस दासता संज्ञा की तह में छिपे विश्वास, स्नेह व कर्तव्य के स्थान पर आज जो अविश्वास, द्रोह, अनास्था व अनाचार हम देख पाते हैं उसमें लगता है कि ये नये 'इस्ट' दासता की सीमा आज पहले से निकृष्ट बनाना चाहते हैं।

× × ×

वैसी-सी एक दोपहर थी। चैत मास के सन्नाटे में सड़कें निर्जन पड़ी हुई थीं। उन पर कहीं-कहीं तारकोल चटक कर अधिक काला—ढीला हो गया था। पेड़ों के साथ-साथ उनकी छांह तक सूनी पड़ी हुई थी। नन्हे पौदे प्यास में आकुल शान्त खड़े सचमुच किसी के आने की प्रतीक्षा में टकटकी लगाये थे। हवा जब चलती तो लगता अनुराग बिखर रहा है जब रुकती तो लगता विरह मसोसें ले रहा है। इस अनुराग-विरह के द्वन्द्व में नैतिकता की शीतलता तो जैसे युगों पूर्व कहीं खो चुकी थी। आस-पास के बंगलों के द्वार लगभग बन्द से ही थे। ऐसे न जाने कितने बंगलों में बन्द रूप और यौवन—अतृप्ति की तपन में—चुपचाप असम्भावित व अनधिकृत साहचर्य के अतिरेक को पीकर—गति की शीतलता को चूमकर—कलुष के मन्द-डोलन में हवा की-सी गति भरते रह कर—सुनसान में लथपथ पड़े सो रहे थे। धूप की तेजी में एक बांध लाने के लिये कैनवेस या जूट के पर्दे बरामदों में लटक रहे

थे। कहीं कोई इक्का-दुक्का व्यक्ति दिख जाता या कहीं दूर साइकिल की घंटी बज कर थम जाती। कारों का आवागमन भी स्थिर था।

तभी फाटक का चौकीदार अनेक बार सड़क झांकता और लौट कर किनारे पड़ी बेंच पर आ बैठता। प्रतीक्षा में वह औरों से अधिक आतुर प्रतीत हो रहा था। उसी कार्य के लिये वह जी भर कर प्रसन्न किया गया था।

किर्र-कीं की एक धीमी आवाज पास तक आई और कुछ तेज होकर बन्द हो गई। चौकीदार हाथ का डंडा लेकर बाहर आया और झांक कर लौट गया।

तत्क्षण संकेत पाकर लता—किनारे वाले कमरे से पग थाम कर निकली। श्वेत-वस्त्राभूषित रूप की वह धूप दबे-दबे, सिमटे-सिमटे-कार की आगे की सीट पर, पुलक में पलक बन्द किये, आकर बैठ गई।

पुनः किरकिर्र-कीं का स्वर उभरा और आगे बढ़कर विलीन हो गया। चौकीदार का पहरा अब बाहर वालों के हेतु न होकर अपने उसी स्वामी के हेतु था जो सचमुच अपने आसपास के अविश्वास व वातावरण के मौन विद्रोह में बेखबर सो रहा था।

लता आज अप्सरा-सी लग रही थी। दिनेश आज राजकुमार सा लग रहा था। वस्त्र व शृंगार व्यक्ति के बाह्य-रूप को सजा कर अन्तरङ्ग में इतनी ही असीम चाह उत्पन्न करते हैं और उस चाह के वैसे ही से नानारूप हैं जैसे उनके।

लता की मुद्रा में मीठी-सी लाज भर रही थी। संकोच में वह स्वयं व उसके वस्त्र दुबक रहे थे। दिनेश आवश्यकता से अधिक उत्साहित व अधीर था। उसकी उमंगें कार के आगे दौड़ रही थीं।

यों दिनेश—अट्टहास कर उठा। लता मुस्काती रही और कार दौड़ती रही। दाहिना हाथ हेंडिल पर व बायें से दिनेश लता के कन्धे सहलाता रहा। और कार—पेड़ों की साया में बलखाती—यमुना के किनारे की सड़क पर—दौड़ चली।

दिनेश—आज कुछ गुनगुनाने में असमर्थ था। उसका पुलक, मौन रह कर ही पीयूष-पान करना चाहता था। उसके अधर—अधर चूमने को मौन ही, बावले बने रहना चाहते थे। उसके सजग नेत्रों की फैलती कगारें—यमुना की कछारों में—कार के शीशे के सामने—दूर बहुत दूर—केवल कुछ देखतीं और लौट पड़तीं, निकट बैठी स्वर्ग-देवी की ओर।

ये युगल—दूर तक निकल आये। देर तक वे एक दूसरे से बोले नहीं। तभी मौन भंग करते हुये दिनेश बोला—"रानी·······।"

सम्बोधन से लता कुछ चौंकी किन्तु वार्तालाप के प्रारम्भ में ही बोल उठी—"कल बड़ा गड़बड़ होते-होते बच गया।"

"क्यों क्या हुआ ?" पापलीन की दूधिया कमीज की करकराहट में दिनेश ने प्रश्न किया।

"सिगरेट-केस खोजते-खोजते पिताजी के हाथ में आपका पत्र पड़ गया। तभी मैं सामने आ गई और हड़बड़ाते हुये साहस करके "अमिता का है", कह कर पत्र उनसे ले लिया।"

दिनेश सड़क पर खड़े गाय के बछड़े से कार बचा रहा था इसपर भी पहियों की लपेट में उसका एक पैर आ गया किन्तु दिनेश उसी प्रकार कार की गति में बहा चला गया।

कुछ रुक कर लता बोल पड़ी—"शैतान कहीं के·······ऐसी बातें पत्र में लिखी जाती हैं। देखिये·······हम मिलते तो हैं ही—पत्र मत लिखा कीजिये—बुरी बात है।"

दिनेश ने कोई उत्तर नहीं दिया और सामने ही एक बगीचे के फाटक से कार अन्दर घुस आई। लता चौंकी। दोपहर की इन घुमाइयों में अभी तक वह सड़कों पर ही घूमती रही है। कार चक्कर खा कर बंगले लौट आई है। बगीचे का फाटक पार होते देख कर लता ने अनायास प्रश्न किया—"कहां चल रहे हैं ?"

"अपना ही बाग़ तो है", दिनेश ने मुस्करा कर उत्तर दिया और चतुर्दिक हरीतिमा से घिरी उस नीरव सड़क पर वह कार दौड़ा लाया।

लता ने देखा—सामने एक विस्तृत और हरा-भरा 'लान' जो उस दोपहर की सफेदी में, किसी शुभ्रता की प्रतीक्षा में पलक-पांवड़े बिछाये मौन बिखर रहा था। इस क्षण कार जहां रुकी थी—वहां द्वारपाल की तरह खड़े—पाम के दो बड़े वृक्ष—स्वागत कर रहे थे। वहीं से दोनों ओर को फूलों की क्यारियां फैल चली थीं। क्यारियों में रंग-विरंगे पुष्प सुरभि बिखेर रहे थे। यों लग रहा था, जैसे क्यारियां सूने में सो रही हों।

किनारे की ओर बाग के बीचों बीच एक छोटी-सी इमारत दिख रही थी जिसके पीछे से बाग़ की बाउन्डरी दौड़ लगा रही थी।

लता कुछ सहमी-सी—कुछ सकुचाई-सी—कुछ उत्सुक-सी—वह सब एक दृष्टि में देख गई।

दिनेश कार से उतरा। सामने ही एक कंकरीली पगडंडी उस बिल्डिंग के बरामदे तक जा लगी थी। सामने ही माली बढ़कर आ खड़ा हुआ।

"ताला खुला है ?" दिनेश ने प्रश्न किया।

"हां, सरकार," और माली नें हाथ जोड़ दिये।

ताला—सुनकर लता पुनः चौंकी और भावी कल्पनाओं के तार जोड़ने की चेष्टा करने लगी कि उसकी विचार-शृङ्खला—'आओ', के स्वर के साथ टूट गई।

उस आमन्त्रण में एक विलीनता थी जिसे लता ने समझा। कार की सीट पर ही बैठे-बैठे लता ने धीरे से कहा—"सुनिये""।"

आगे से कार का चक्कर लगा कर इठलाते हुये दिनेश ने निकट आकर लता की ओर की खिड़की खोली और उस पर झुक गया। तब हाथ से हैंडल छोड़ कर लता को गुदगुदाते हुये वह बोला—"आओ, न।"

"कहां चल रहे हैं ?" लता ने अलसाई मुद्रा में प्रश्न किया।

"वह सामने—वहां।"

"यहां तक आने में वैसे ही काफी देर हो गई है। अब लौट चलिये। मां आज घर पर हैं नहीं। पिताजी जगेंगे तो जगते ही मुझे पुकारेंगे।"

"आओ तो—जल्दी ही लौट चलेंगे।"

लता चुप।

"आओ न.........," दिनेश ने कुनमुनाते हुये कहा।"

लता दो क्षण बैठी वैसे ही सोचती रही। उस क्षण उसकी मादकता बड़ी भली लग रही थी और वह, तब जैसे एक साहस के साथ कार से नीचे उतर आई।

———

१३

अन्दर कमरा काफी बड़ा था एवं आधुनिक साज-सज्जा से भली प्रकार सजा हुआ था। दीवारों पर चारों ओर पुराण व खैय्याम के अनेक अर्धनग्न चित्र टंगे थे। दीवारों पर आयल-पेन्ट की हरियाली में 'हिरण व शकुन्तला' के भावपूर्ण 'स्टेन्सिल' छपे हुये थे। एक घुमाव के साथ लता ज्यों ही केन्द्रित हुई तो उसने देखा कि बीचो-बीच गद्देदार कुर्सियों के आगे की गोल मेज पर एक बड़ा-सा 'माडल' शिव-पार्वती का मदिर-भंगिमा में रखा हुआ है। वह धीरे-से आकर चुपचाप वहीं एक कुर्सी पर बैठ गई। मुग्ध-मन दिनेश वहीं पीछे खड़ा हो गया। उसने अपने दोनों हाथ कुर्सी की पीठ पर फैला दिए और पलक मूंद कर लता के बालों से उड़ती सुगन्धि को पीता रहा।

एक क्षण यों ही खड़े रहने के पश्चात् दिनेश झूमता हुआ लता के निकट ही आकर बैठ गया। बड़े धीमे से लता के कपोलों के निकट अपने ओठों को लाकर वह बोला—"तो क्या खातिर करूँ... ?"

लता ने एक सहमा-सा दृष्टिपात हठात् दिनेश पर फेंका और मौन हो रही। वह इस क्षण अत्यधिक उद्वेलित हो रही थी। विचित्र सिहरन में हिरन की-सी आँखों को डुलाते हुये वह निरन्तर सोचती जा रही थी—बंगला, पिताजी, नींद, उठकर उसे पुकारना और आगे....।"

और सामने से माली ने कमरे में प्रवेश किया। उसके हाथ में गुलाब की अछूती कलियों के बड़े-बड़े दो गजरे खिलखिला रहे थे। माली ने दिनेश के संकेत पर—शिव-पार्वती की प्लास्टर-प्रतिमाओं के आगे दोनों गजरे रख दिये और लौट गया।

लता को लगा कमरे में अगरबत्ती जलाकर पहले से ही सुवास फैलाई गई है उस पर गुलाब की भीनी सुगन्धि ने वातावरण को और विलासी बना दिया है।

जाते समय माली ने किवाड़ उढ़काये तो लता अचकचा कर उठ बैठी और चलने को प्रस्तुत होकर बोली—किन्तु कुछ बोल न पाई।

तभी दिनेश ने स्वल्प बल-प्रयोग से लता को कुर्सी पर ही पुनः टिका दिया और—"अभी आया……" कहकर चल दिया।

लता ने घूम कर देखा कि निकट ही द्वार खोलकर दिनेश एक दूसरे कमरे में अन्दर गया है और स्विच दबाकर कमरे को प्रकाशित करते हुये उसने कमरे का द्वार उढ़का दिया है। वह प्रस्तुत और आगामी के आक्रोश को पिये—चुप बैठी रही।

कांच की खनखनाहट पहले तो उभरी तत्पश्चात् अचानक थम गई और दिनेश कमरा खोलकर बाहर आ गया। लता ने देखा पैंट और कमीज का स्थान 'नाइट गाऊन' ने ले लिया है और दिनेश की चाल में एक मदभरा जोश है।

दिनेश आकर मौन-मुखर मुद्रा में सोफे पर बैठ गया—निकटवर्ती मादक-रूप की हाला को पीता रहा; कुछ क्षण पूर्व मदरस भरे आसव को पीकर लता की मांसल जंघाओं में इठलाता रहा। लता भयभीत किन्तु अत्यधिक उत्तेजित पलक मूंदे सिहरती रही और तब अनायास दिनेश उठ खड़ा हुआ।

दिनेश ने दोनों मालायें अपने हाथ में ले लीं। एक को उसने आवेश में उचट कर लता के गले में पहना दी और दूसरी को बरबस लता के हाथों में टिकाते हुए कह उठा—"लता……।"

उस निर्जन निःशब्द कमरे में स्वर प्रतिध्वनित हो उठा—"लता।"

लता कांप गई—लता उत्साहित हो गई। और तब कांपते हाथों किन्तु स्थिर मन्तव्यों सहित उसने माला हाथ में ले ली। क्या करना होगा ? इस सोच में पड़कर वह उठ खड़ी हुई। उसका मस्तिष्क जैसे निरुत्तर था। अनायास प्रकटे—ज्यों दैवी प्रकोप अथवा सुख से व्यक्ति हतप्रभ-सा—केवल—देखता भर रह जाता है। और लता बोली—देखिये—यह सब, बताइये तो क्या हो रहा है ? क्यों ? क्या हमें जाने की जल्दी तनिक भी नहीं है ?"

प्रश्नों की झड़ी में दिनेश जैसे तैर गया और झूमते हुये कह गया—"क्या सचमुच ?" और आगे बढ़कर उसने लता को कस लिया।

"देखिये—इस क्षण मुझे यह सब अच्छा नहीं लग रहा है। मुझे तुरन्त बंगले छोड़ आइये अन्यथा····।"

और हाथ की माला को मेज़ पर टिकाते हुए लता ने पग आगे बढ़ा दिये।

किन्तु दिनेश ने आगे बढ़कर उसे रोका।

और दिनेश उस निर्वाक स्थिति को देखकर विस्मित हो रहा था। दूसरी माला अपने गले में न पाकर वह खिन्न हो उठा। उसका जीवन-वृत्त कुछ भी; कैसा भी रहा हो। किन्तु अब वह लता में सीमित हो रहा था। लता का प्यार—मांसल स्वरूप—मोहक स्वभाव—कुछ भी हो—कुछ भी हो—उसमें वह एकचित होकर घिर रहा था।

आज वह निश्चय करके चला था—लता को पूर्णतः—तन से भी—पा लेगा। और उसके कार्यक्रम—वह—चाह रहा था, सब समाप्त होकर केवल लता में सिमट कर रह जावें।

और भीनी सुगन्धि ; प्रेयसि की अलकों की घटायें ; नेत्रों की उभरती चमक ; अधरों का प्रस्फुटन ; वस्त्रों में बन्द—उभरी उत्तेजक मांसलता ; वातावरण की नीरवता ; वाह्य-सौन्दर्य में डूबी पुष्पित

हरीतिमा से घिरी निर्जनता ; मृदु-हास ; स्वर्णिम-गात के निखार से फैलती तन की मृदुल सुवास.........वह सब कुछ नैकट्य में क्यों न तिलमिलाये—क्यों न झिलमिलाये—क्यों न इठलाये और क्यों न अलसाये।

आंखों में आंखें डालकर दिनेश उच्च-स्वर में—मदिरा की मादकता में रूप की मादकता समेटते हुये—पुकार उठा—"लता.........।"

लता ने अपने कजरारे और सुडौल नेत्रों की गति उस ओर फेर ली। वह अपलक दिनेश को देखती रही। तब दिनेश ने उंगली के संकेत से लता को सामने की ओर केन्द्रित करना चाहा। वह तैरती-अंगड़ाइयों में हाथ को एक ओर फेंकते हुये बोला—"लता.........वहां चलो।"

कमरे में प्रवेश करते समय ही एक दृष्टि में लता ने जो कुछ देख पाया था और उसने जब उस ओर दृष्टि की थी—जिधर तत्क्षण दिनेश संकेत कर रहा था—तब उसने अपने नेत्रों को हठात् लौटा लिया था। इस बार लता ने दिनेश के निर्देश पर उधर पुनः देखा—समक्ष एक मसहरीदार ऊंचा पलंग ; बादामी पालिश में झकाझक और उस पर छई बेले के नये फूलों के जाल से घिरी मसहरी, झालरें और श्वेत सज्जा। और तब लता ने अनुभव किया कमरे में महक—केवल धूप-गन्ध, गुलाब के दो गजरों और उसकी अपनी ही नहीं थी। वे अनगिन पुष्प—एकान्त से घिरी कन्दरा के से सुनसान कमरे में—यौवन के आवेग की-सी तीव्र मादकता बिखेर रहे थे।

लता ने देखा—कौमार्य की आभा में निखरी वे असंख्य कलियां—उनकी वे नवल-धवल पंखुड़ियों के पुष्प—कुमारिल से—नये-नये—जो जबरन—पौदों की मासूम डालों से तोड़-तोड़ कर यहां लाकर बिछा दिये गये थे और वैसी ही एक कली की-सी नूतनता में वह स्वयं।

और वे पुष्प—अपने सुख-साज को त्याग कर दूसरे की केलि-क्रीड़ा के बलात् अवयव टुकर-टुकर ताक रहे थे कि उनकी कोई सराहना करे। वे अपने स्थान से च्युत किये गये हैं केवल इतना ही नहीं, उनको

मसलने के लिये—वासना की अठखेलियां अभी उन पर ही हठात् बिखर पड़ने को—मन की कंरोचन में दब कर उभर रही हैं।

लता पलंग की ओर एकटक देखती रही। उसे लगा—कौतुक में जैसे वह वहीं उड़नखटोले में बैठाल कर मृत्यु-लोक से हटाकर—अनुराग के सुरम्य-लोक में लाई गई है। किन्तु लता को देवत्व के से पावन रूप, स्नेह के धूप-गन्ध के से मनोहर स्वरूप, प्रणय के स्वर्गिक रूप, आराध्य के लोकेतर रूप की चाह अधिक अपेक्षित थी। उसकी मान्यता वही थी।

वह सामने पलंग पर बिछे असहाय पुष्पों की मसलन को तिरस्कार-पूर्वक देखना चाहती थी।

किन्तु प्रकृति में बलात् नाश करने वाले, ध्वस्त करने वाले, कुचलने और मसलने वाले अवयव नहीं हैं—यह कैसे ? और दिनेश आगे बढ़ा। अनायास लता के गुलाबी ओठों को चूमा। ब्लाऊज और साड़ी से अतिरिक्त के अनाच्छादित सम्पूर्ण शरीर को—एक सांस में चूमता रहा। लता मौन खड़ी रही—निःशब्द खड़ी रही—अचेत खड़ी रही।

और दिनेश - लता के पैर चूमने को झुका। लता आवेश में भूमि पर बैठ गई।

दिनेश अस्पष्ट-सा कह गया—"उठो—"

लता मौन थी।

"उठो।"

लता निश्चेष्ट थी।

"उठो''''।"

लता अचेतन थी।

दिनेश उठा। दोनों बाहों से लता की भुज-लताओं को बलात् पसारा और उसे उठाना चाहा। लता उठ खड़ी हुई।

इस क्षण अचेतनता व भय उससे भाग गया था। उसमें एक अन्तर्दीप्ति—एक शक्ति—जिसमें वासना और मांसलता नहीं—स्नेहिल-

अनुराग की सीमा—पावन-प्रेम का बल था। उसे प्रतिस्नेही के अन्तराल के प्रति न खेद था—न राग था—न त्याग था।

वह यन्त्र-चालित-सी किन्तु सुस्थिर मस्तिष्क लेकर दिनेश की अनुनय-विनय के आभार में पलंग के निकट तक आई।

तब नेत्रों की दीप्ति में एक बार उसने समक्ष पड़े पलंग को—मनुहार करते पुष्प-गुच्छों को, कोमल कलियों को—तत्पश्चात् दिनेश को देखा।

वह सोच गई—यह बावला क्यों इन कुमारी कलियों को मसलने को तुला रहता है ?

और लता कई मिनट योंही दिनेश को निहारती रही। उसके उस दृष्टिपात में आशंकायुक्त एक प्रतीक्षा थी।

इतने पर भी वह दृढ़ थी—दृढ़तर होती चली गई।

दिनेश अकंपित स्वर में कहता चला गया—"लता, कैसा सुहाना वातावरण है ? कैसा सुन्दर—कैसा मीठा—प्रथम-मिलन का यह दिवस····?"

लता मौन खड़ी भूमि को पैर के अंगूठे के नाखून से कुरेदती रही। वासना का एक नाखून उसके मन को जो कुरेद रहा था। दिनेश पास खड़ा था। वह कभी लता और कभी पलंग को देखकर बिखर पड़ता।

लता कुछ जानना चाह रही थी। वह अनजान थी।

दिनेश जानता था। वह बताना चाहता था।

तभी वह लता की एक उंगली पकड़ कर पलंग की ओर उसे ढकेलते हुये बोला—" ···ल····ता।"

लता मौन थी।

"आओ····।"

लता निश्चेष्ट थी।

"आगे आओ न।"

"लता अचेत थी। शान्त थी।

लता हैरान थी। दिनेश परेशान था। तभी वह सारा साहस बटोर कर कह पड़ा—"आज हमारे सुहाग''''।"

लता तड़प उठी। वह छिटक कर दूर खड़ी हो गई। सारी सरसता एवं दृढ़ता, गम्भीरता और नैराश्य में पलट गई। लता को वैसी-सी प्रतीक्षा—वैसी-सी आशा न थी। दिनेश वैसी-सी निराशा से बहुत दूर था। और लता तीव्र-स्वर में कह उठी—"बिना संस्कार, बिना समाज के''''यह नहीं—कभी नहीं, कभी सम्भव नहीं''''।

और वह तेजी में मुड़ती हुई भागकर सोफे पर आ पड़ी। दोनों हाथों से उसने अपने मुख को, मसोस कर, दाब लिया।

दिनेश मौन, अशान्त किन्तु गम्भीर हो उठा। उसने ज़िद नहीं की। उसने दोहराया नहीं। उसने समझने की चेष्टा की। उसने सोचा—वह कहीं 'बाजार' में नहीं खड़ा है। घर के अन्दर है। नारी की स्पष्ट और शालीन स्वरूप-राशि उसके समक्ष है। वह भी पलंग से हट आया।

शीघ्र ही दूसरे कमरे में जाकर दिनेश ने वस्त्र बदले और पूर्ण गम्भीर वातावरण में वह लता के निकट आकर बोला—"चलो''''।"

लता निरुत्तर थी। उसके पलक मुंदे थे।

"चलो—घर चल रहे हैं।"

बहुत धीरे से लता ने अपने नेत्र खोले। दिनेश को जी भर देखा। अपने प्रिय को वह वैसा ही देखना चाहती थी। उसकी वही मान्यता जो ठहरी। वह तुरन्त उठी। अपनी दोनों बाहें फैलाकर वह दिनेश से लिपट गई।

दिनेश ने उसे चूम लिया।

लता ने तुरन्त अपने को विलग किया और आगे बढ़कर मेज पर रक्खी माला उठाकर दिनेश के गले में पहना दी और पलक मूंदे-मूंदे पुनः वह उससे लिपट गई।

१४

लता जब अपने बंगले लौटी तो शाम हो रही थी। आवश्यकता से अधिक विलम्ब हो जाने के कारण वह सहमी-सी दबे पाँव फाटक से घुसी। सामने बरामदे में शान्तिस्वरूप बैठे, उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

सुखानुभूति के विलोड़न में वह इतनी डूब गई थी कि गुलाब की माला पहने हुये ही—विस्मृति में पुलकित-सी वह शान्तिस्वरूप के सामने से होकर चुपचाप अपने कमरे में चली गई।

शान्तिस्वरूप को यह ज्ञात था कि लता स्वरूपरानी के साथ नहीं गई थी। लता की उस अनुपस्थिति को अनहोनी व अनुचित मानकर ही वे कुर्सी पर बैठे उसकी ओर अनिश्चित दृष्टि से देखते रहे। अपने स्वभाव के आस्थापूर्ण सौजन्य व सन्तोष की गरिमा में वे कुछ बोले नहीं। मन में एक उलझन थी जिसकी हूक में वे वहां से उठ बैठे और अनायास 'सोफर' को गाड़ी लाने को पुकार उठे।

लता अपने कमरे में आकर पलंग पर लेट रही और उसे अपनी व अपनेपन की सुधि तब आई जब उसने प्रणय की भावी गुथन में अपना बायाँ हाथ लेजाकर मन के निकट कुछ टटोलना चाहा और उसे लगा—कुछ भरा-भरा-सा—कुछ फूला-फूला-सा—फूलों का वह पाश—अनुराग की मिठास में—उसके हृदय को उभार रहा है।

ओफ ! पिताजी के सामने से वह वैसे ही चली आई। और वह कांप गई। दुलार अथवा लाज के असीम उद्वेलन में—वह पलंग पर एक बार उछली और मुंह ढंक कर तकिये से लिपट गई—जो सुख-क्षोभ से दृढ़तर अनास्था पीकर भी अपने तईं अलस बना रहता है।

सायंकाल से कुछ पूर्व स्वरूपरानी बंगले लौटीं। बंगले आने पर उनके साथ के बच्चे तो लॉन पर खेलने को फैल गये और वे विलम्ब के अनौचित्य की संभाल में सबसे पहले-पुत्री लता के निकट आईं।

'वह मृग-मरीचिका है। ऐसे से पात्र की श्रेष्ठता की चाह में अनधिकृत तोष है। जान-मानकर भी कुपात्र के पाश की कठोरता के प्रति मृदु उदारता है। किन्तु वह है—यों कि मन अब मोड़ देने पर भी नहीं मुड़ता। उसका आह्वान उससे भी कठोर बन चुका। तब जो बात फैली तो क्या होगा ? तो पिताजी ने उसे यों देख लिया है, तो अब क्या होगा ?'—इसी सोच में लता पलंग से उठी और पास की कुर्सी खींच कर उसपर बैठ गई। पैर उसने लम्बे करके पलंग की पट्टी पर टिका दिये और सोचती ही रही। 'जहां शरीर का दो-पन बाधक नहीं साधक होता है। उसे वही करना है—प्रेम-योग की वही स्थति मान्य है। तो उसने आज कुछ बिगाड़ा नहीं—बहुत कुछ बनाया। तो वैसा—दिनेश से भी निभ जावेगा। उसे विश्वास है—वह वैसा करा लेगी। उसमें शक्ति चाहिये' और वह उस पारलौकिक-प्रेम के पुलक में आप्लावित हो अपने आप को सराहती रही कि सामने से स्वरूपरानी ने चकित मुद्रा में उसे देखा—उसके नेत्रों में कुछ टटोला और अपने नेत्र उसके गले में पड़ी माला पर एक-दो-चार बार टिका लिये।

"यह कहां से आया ?" सस्मित कहते हुए स्वरूपरानी ने आगे बढ़कर अपनी नासिका गुलाब की महकती कलियों पर टिका दी। लता के गोलार्धों के निकट उभरी कुण्डलाकार वह पुष्प-लड़ी—सुवास की वैसी-सी गहनता फैला रही थी कि चुपचाप—एक विचित्र-सी असम्भावना

के साथ—वह सब कुछ स्वरूपरानी के अन्तरंग में पैठता चला गया।

लता पुनः कांप गई।

प्रातःकाल लता ने जाना कि स्वरूपरानी की स्वीकृति सहित पिताजी ने आदेश दिया है—"दिनेश अब कभी बंगले पर नहीं आ सकता। लता की गतिविधि पर व उसके मिलन-व्यापार पर पूरा 'कण्ट्रोल'—होगा—आज से।"

लता विवश—रो पड़ी। दिन भर रोती रही। तब शाम को उसने सोचा वह रोई क्यों ? उसे लगा उसके रुदन में एक आक्रोश है जो उस नव-परिचित के प्रति नहीं—अपनों के प्रति—अपने पिता के प्रति है। और वह बरामदे में बैठी—नीलाकाश की शून्यता में अपने को डुबाकर—विषाद के बादलों को हटाती रही। उस निरभ्रता में उसने झांका कि प्रणय की भावी प्रखरता में अनुराग की दूधिया चांदनी उसमें नवोल्लास भरकर ही रहेगी।

ऐसे में कोई रोक—कोई टोक अनुचित होगी।

और बहुत दिन बाद उसे अमिता का पत्र मिला था। लिफाफा उसके हाथ में था। मन की व्यवस्था में उसने उसके कोने फाड़े और पढ़कर कांप गई।

मेरी लता,

प्यार। और अब जाने को हूं—तुमसे बहुत दूर। दुनिया से बहुत दूर। क्यों—जानती हो ? इसलिये कि जब अपने तन की रक्षा करना न आया—तो, प्राण—उसका स्पन्द बन्द होकर ही—प्रायश्चित्त की प्रारम्भिक चेतना पावेगा।

एक बड़ा धोखा—अनजान में तुम्हारे प्रति भी करती जा रही हूं—मेरे बाद भी न जान सको तो मुझे शान्ति मिलेगी।

'नर्सिंग-होम' में—कुछ घण्टों की मेहमान हूं।

नमस्कार—

उस तुम्हारे सुघर-सलोने प्रणय-देवता को भी—मिलो तो कह देना।

नवीन अनुभवों के पुलक-संसार से—इस दुनियां में—अपने रूप—और साड़ी के छोर को बचाना।

विदा—

तुम्हारे सुख की चाहना में—सदा-सर्वदा को।

क्षमा—

मेरी ओर से उसको भी....जिस वास्तविकता के अनुचित रूप को—वह इंसान तुम्हारे सामने लावे किन्तु वरदान—

कि तुम उसे ठुकरा देना—मेरी लता।

तुम्हारी—

अमिता—

(अपने उनसे भी कह देना—मर गई)

पत्र पढ़कर लता ने जैसे ही दृष्टि उठाई कि उसने देखा—सामने दिनेश का नौकर खड़ा है। जैसे उसने एक दृष्टि में अपने चतुर्दिक पिता के निर्देशों के बाँध को देखा हो और नदी के प्रवाह की-सी उत्तेजना में वह निडर होकर उससे पूछ बैठी—"क्यों....?"

और नौकर ने स्लिप सामने कर दी।

लता पढ़ गई—

प्राण—

तुमने कहा था—न, बिना समाज....बिना संस्कार....तो बोलो कब वह संस्कार पूरा करोगी। तो कब—बोलो कब—न पाकर भी तुम समाज की मंजूरी लेने की तिथि पा सकोगी ? मैं एकचित्त हूं—दृढ़। अब वह होना ही है—होकर रहेगा। तो बोलो हमारी शादी—कब होगी।

तो अब तुम कब मिल रही हो ?

कल—किस समय।

—दिनेश

और लता के मन से अमिता के उपदेश का बोझ का-सा भार—उतर गया और वह उत्तर लिख गई....

हाँ—देवता,

जैसे आदेश दोगे—तुम्हारी चिरपुजारिणी वैसा करेगी—वह तत्पर है। विशेष—मिलने पर—

पर सुनते नहीं हो। आखिर—गड़बड़ हुई न। बन्धन लग गये न। तो अब—बंगले पर मत आना। मैं कल दोपहर को फोन करूँगी—तभी समय दूंगी।

पिताजी—जो डर था वह होकर रहा। उन्होंने मना कर ही दिया—बोलो, कैसे ? कब मिलोगे ?

—लता

जब नौकर चला गया तो विचार-शृङ्खला का दूसरा छोर सामने आगया—अमिता के पत्र की बात—न जाने क्या लिखा है ? उसने.... लेकिन उसे यह सब क्या—कैसे हुआ ? क्या हुआ उसे ? तो वह मर गई—अब तक मर चुकी होगी—वह सचमुच। और लता सिसक उठी।

इस रुदन में—अमिता के प्रति समवेदना की अपेक्षा—अपने ऊपर लगे अरोपों और बन्धनों की करोंचन थी; जो अनेकों के प्रति विद्रोह करके एक के प्रति आश्रय का अनोखा-सा किन्तु प्राकृतिक-सा रूप पाने को सिसक रही थी।

शान्तिस्वरूप—लता पर निर्देशों का प्यार लादकर, दो तीन दिन बाद ही—व्यावसायिक कार्यवश, बम्बई चले गये।

बन्धनों के बीच खुलकर खेलना ही जैसे सम्भावित आकर्षण है और दाबने पर ही जैसे बात और ऊपर आती है अतः यह चर्चा चल पड़ी कि कुछ कारण है जिनको रोकने के लिये मधु-गायक की मिठास बन्द की गई है। लता ने भी प्रकृति-सुलभ—मौन-विरोध में, निर्देशों की

उपेक्षा में प्रणय की नैया भंवरों में डाल दी। वह दिनेश के निकटतम पहुंच गई।

दूसरी ओर दिनेश ने भी शान्तिस्वरूप की अनुपस्थिति का पूरा लाभ उठाना चाहा—उठाया।

कुछ समय पूर्व शान्तिस्वरूप व दिनेश का अधिक घुलना-मिलना था। तब दिनेश उनके, निरन्तर साथ रहता था। उनके आमोद-प्रमोद, रंगीनियों व रंगरलियों में उनका साथी, सहयोगी अथवा सहायक रहता था। तभी दिनेश, शान्तिस्वरूप की कमज़ोरियों को—आवश्यकताभर जानता था। इधर वह उनसे दूर होगया था। उसके दो कारण थे—एक तो अन्तर्मन से ही दिनेश—अब बाहरी रंगीनियों से दूर हटकर लता में केन्द्रित होता चला जा रहा था। दूसरे लता के प्रसंग को लेकर ही शान्तिस्वरूप उससे हटते जा रहे थे। दिनेश भी सुन चुका था कि शान्तिस्वरूप उसके प्रति सतर्क व अनैच्छिक होते जा रहे हैं।

और दिनेश तीसरे दिन शान्तिस्वरूप के बंगले पहुंचा। लता—बरामदे में बैठी 'इलस्ट्रेटेड' की तस्वीरें देख रही थी। पास ही स्वरूप-रानी दूसरी कुर्सी पर बैठी अपने बालों पर कंघा फेर रही थीं। सामने आकर दिनेश ने हाथ जोड़े—प्रत्युत्तर में स्वरूपरानी मुस्करा दीं।

लता दृष्टि नीची किये पन्ने उलटती रही।

"बैठो—" कहकर स्वरूपरानी ने पास की दूसरी खाली कुर्सी आगे बढ़ा दी।

स्वरूपरानी के स्वभाव का तैरता मोह व्यक्ति को उत्साहित करने में सर्वथा उदारता प्रदर्शित करता था। दिनेश के प्रति निश्चित आपत्तियों के होते हुये भी प्रकट में स्वरूपरानी चिर-प्रसन्न बनी रहीं। देर तक दिनेश, स्वरूपरानी से वार्तालाप करता रहा।

और आकर्षण क्यों कलपे? इस मान्यता की व्यवस्था में स्वरूपरानी स्वयं ही उठकर अन्दर चली गईं।

दिनेश लता की ओर घूमा। घबड़ाकर लता ने अपने नेत्र उसपर टिका दिये। उस क्षण मन में वह अमिता के प्रति सिसक रही थी और एक विचित्र से अविश्वास को लेकर वह दिनेश की आकृति में कुछ पढ़ने का प्रयास करती जा रही थी तभी उसने संक्षेप में अमिता के पत्र की बात बताते हुये, ब्लाउज से निकालकर, पत्र दिनेश के आगे बढ़ा दिया।

एक उपेक्षा में—दिनेश ने धुंधला-सा, कागज में कुछ पुता-सा, देखा और चुपचाप कागज की चार तह करके उसे लता को लौटा दिया। उसकी दृष्टि शून्य में टिकी रह गई और उदासी की काली-सी लकीर से वह घिर गया। पत्र की इस मौन प्रतिक्रिया में लता अमिता को केवल—याद भर कर पाई। पत्र की क्रिया से दिनेश का कोई सम्बन्ध जोड़ पाने में वह असमर्थ थी।

बात की गति बदलने के ध्यान से दिनेश जैसे गिरते-गिरते संभल कर पूछ बैठा—"भाईजी कब लौटेंगे ?"

"इस बार वे मुझ से बोल कर भी नहीं गये हैं", एक कराह को जैसे दाब कर लता ने उत्तर दिया। तभी स्वरूपरानी की एक पुकार ने दिनेश को अन्दर बुला लिया।

"देखो, लता ने कुछ कहा तो नहीं""""तुम कुछ ध्यान न देना। मैं सब ठीक कर लूंगी""लता के पिताजी को समझा लूंगी""व्यर्थ ही उन्हें कुछ भ्रम-सा हो गया है; हो क्या गया है, लोगों ने उन्हें डलवा दिया है""तुम बंगले आओ जी, देखें कोई कैसे रोकता है ?" स्वरूपरानी ने नारी-सुलभ उदार-सरलता के कारण उभरी दृढ़ता से कह दिया।

"किन्तु, मुझे भाई जी पर आता है, देखिये न, मैं उनकी नस-नस जानता हूं और वे मुझे भी पहचानते हैं; अच्छी तरह से""और वे बिगड़ने की सोच भी नहीं सकते। अवश्य लोग उनके उलटे-सीधे कान भर रहे हैं", दिनेश ने स्वरूपरानी की आत्मीयता को और अधिक उत्साहित करते हुये कहा। उस क्षण दिनेश के मन में शान्तिस्वरूप के

प्रति एक विद्रोह कार्य कर रहा था और उस विद्रोह की पुष्टि में, वह स्वरूपरानी के सहयोग की उपयोगिता को अपनाना चाहता था और तभी वह उसकी भूमिका बाँधता रहा। वह बोला—"भाई जी किसी काम से गये हैं····शायद ?"

"उनके तो बीसों काम हैं····।"

"वाह भाभी जी, काम····वह, एक आदमी एक समय में एक ही कर सकता है—बीसों काम की बात भी खूब रही। आप जानती नहीं —भाई जी बड़े घुटे हुये हैं।"

"होंगे····।"

"होंगे नहीं, हैं····हैं। संभालिये, नहीं फिर न कहियेगा, हमें खबर नहीं हुई····।"

"क्या मतलब····?"

"यही कि तैराई गहरे पानी में हो रही है····।"

स्वरूपरानी को प्रसंग कुछ रुचिकर न लगा और वे उदास हो गईं। कई ओर से आने वाली आवाजें धीरे-धीरे उनके मन को अधीर बना रही थीं और तभी वे परोक्ष-विश्वास से घिरती चली जा रही थीं। उन्हें लगा जैसे यदि उनके पति में कुछ वैसा-सा है जो उनसे छिपा है तो उन्हें मर जाना चाहिये या वह सब कुछ जानकर—उस सब को मिटाना चाहिये, और तब कुछ जानने की उत्सुकता में वे दिनेश के कथन की पकड़ में जकड़ने को अनायास तत्पर हो गईं।

तभी दिनेश ने वार्तालाप को मोड़ते हुये कहा—"चलिये छोड़िये भी····आज तो चलिये कोई 'पिक्चर' देखी जावे।"

× × ×

कार में, सिनमा में, बंगले में, इधर-उधर घूमने के प्रसंग में—दिनेश विष घोलता रहा और स्वरूपरानी रस लेती रहीं। उत्सुकता में, उत्तेजना में, उन्मन में—स्वरूपरानी बहुत कुछ पूछती जातीं और दिनेश बताता जाता। और तब स्वरूपरानी के प्रश्रय में आत्म-हित की

साधना लिये दिनेश उनसे वह सब बताता चला गया—जिसको सुन-सुन कर स्वरूपरानी के होश गुम होते रहे—वे दिनेश को और निकट बनाये रहीं।

मानव की कमजोरियाँ जो बिखरीं तो बहुतों को समेट लाती हैं—बहुतों को डुबा डालती हैं। व्यक्ति की कमी के मूल में; सामाजिक अनौचित्य के परोक्ष में, असन्तोष की कुनमुनाहट जब प्रकट होता है तो वह वैयक्तिक होकर भी समूह को घेर लाती है और तब उसके निकट-वर्ती समूचे वातावरण पर उसका प्रभाव अवश्यम्भावी होता है।

स्वरूपरानी ने जाना कि शान्तिस्वरूप विलासिता में लिपटकर अपने आपको किस प्रकार नष्ट कर रहे हैं—धन को पानी के भाव बहा रहे हैं। स्वरूपरानी—शान्तिस्वरूप के विरुद्ध सब कुछ—बहुत कुछ जानने को उत्कंठित हो उठी—दिनेश सब कुछ—बहुत कुछ बताने को लालायित हो उठा और तब वह स्वरूपरानी का कृपा-भाजन—परम-स्नेही—परम-अन्तरंग बन गया।

दिनेश—प्रतिदिन सायंकाल स्वरूपरानी के साथ घूमने जाता और दूर से—संकेत से—कार में बैठे-बैठे उसने स्वरूपरानी को वे अनेक स्थान दिखा डाले जहाँ शान्तिस्वरूप द्वारा पायल की रुन-झुन, मदिरा की कुन-मुन और थैली की खुन-खुन यौवन में झूम-झूम जाती थी।

उस दिन—स्वरूपरानी ने सारे दिन खाना नहीं खाया जब उन्होंने जाना कि उनके उस बंगले से पृथक एक और कोठी है—पूर्ण एकांत—पूर्ण निर्जन—जिसको किराये पर लेकर उनके पति षोडसि-क्रीड़ा के कौतुक रचाते हैं। और उनका वह विद्रोह दिनेश के प्रति सरसता व उल्लास पाकर खिलखिला उठा और तब वे उसके संपर्क को प्रतिक्षण चाहती रहीं।

इस संपर्क में दिनेश लता-मय हो गया; लता दिनेश-मय हो गई।

शान्तिस्वरूप जब लौटे तो उनके कानों में फुसफुसाहट पहुँचने लगी—'दिनेश अथवा लता—एक दूसरे से मिलते रहे हैं। स्वरूपरानी

दिनेश का सत्कार करती रहीं हैं। पूछताछ के प्रत्युत्तर में उन्होंने सुना—"तुम आज भी मौज करना जानते हो तो औरों को रोक कैसे सकते हो ?"

और शान्तिस्वरूप सन्न रह गये। स्वरूपरानी के आवेश की प्रतिक्रिया में अपना खुलापन देख कर वे निरुत्तर हो रहे। किन्तु उन्होंने स्वरूपरानी के व्यंग्यों की चिन्ता नहीं की; उन्होंने उस सबकी पृष्ठभूमि में दबी दिनेश की शतरंजी चालों की किंचित भी परवाह किये बिना रोक-थाम के बन्धन कड़े कर दिये।

उन्होंने स्वरूपरानी को बताया कि यों उनके विरुद्ध आरोपों के प्रतिफल में लता का सर्वनाश हो जावे, यह न वे चाहेंगे न कोई भी पिता। सर्वदोषी व्यक्ति भी अपनी सन्तान को उस सबसे दूर रक्खेगा—दूर, बहुत दूर—जिसे संसार अवांछनीय मानता है।

और उस दिन शान्तिस्वरूप आवेश में अपना रिवाल्वर निकाल कर—दिनेश को ढूंढने जाने के लिये कार की ओर जानें लगे। जब सामने सोफे पर बैठे-बैठे तरल स्वभाव में, प्रसंगवश स्वरूपरानी ने कहा—"दिनेश कहता था तुम्हारे कोई मित्र हैं जो पत्नी अथवा स्त्री के अभाव में अपनी दो युवा पुत्रियों से शारीरिक सम्बन्ध बनाये हुए हैं·····।"

"हां", शान्तिस्वरूप ने चौंकते हुए किन्तु अनचाहे प्रसंग को तुरंत समाप्त करने के ध्यान में सोफे पर से उठते हुए कहा।

"तो ऐसे लोग भी जिन्दा हैं—इसी दुनिया में, और कैसी हैं कम्बख्त वो लड़कियां·····", स्वरूपरानी की आकृति में तिरस्कार के साथ-साथ लज्जा की असहिष्णु-सी लाली दौड़ गई।

शान्तिस्वरूप चुप रहे और कोट के बटन बन्द करके, जानें लगे।

"दिनेश कहता था—वह राक्षस, लोगों को बड़ी शान से जवाब भी देता है—'मैं अपने फूल किसी को बांटता नहीं'—पापी कहीं का····," स्वरूपरानी ने कुछ रुक कर पुनः कह डाला—"पुरुष—पापियों का कहीं कुछ ठिकाना नहीं····।"

"और वह है तो उन्हीं दिनेश का बड़ा भाई···· उनका चचा····।"

"और ऐसों का साथ तुम्हारा है····," कहते-कहते स्वरूपरानी शान्तिस्वरूप को देखकर कांप गईं।

तेज़ी में शान्तिस्वरूप बड़बड़ाते हुये 'पोर्टिको' की ओर बढ़ गये— "अभी देखता हूं—उस शैतान के बच्चे को····।"

इधर शान्तिस्वरूप ने देखा दिनेश का नाम आते ही जैसे वातावरण मे एक हलचल समा जाती है। उनका मन जैसे आन्दोलित हो उठता है—कैसी अशान्ति होती है, उस व्यक्ति का प्रसंग आने पर। उन्हें लगता उसने उनके व्यक्ति, उनके परिवार और उस सबके मान-सम्मान पर प्रहार किया है। सर्वाधिक उत्तेजना उन्हें तब होती जब वे सोचते—स्वरूपरानी से कैसी-कैसी बातें करता रहा है—दिनेश। और उसने उनकी वे बहुत-सी बातें खोल दी हैं····जो वर्षों से, यों ही अब तक बन्द थीं····और स्वरूपरानी कैसी तीखी हो गई है, इधर····उस तीखेपन में···· भोली स्त्री, मेरे प्रति विरोध प्रदर्शन की प्रवंचना में····अपने पैरों कुल्हाड़ी मारना चाहती है····अपनी लड़की के प्रति भी वह जागरूक नहीं····और दिनेश····उसको मसलना होगा···· धूर्त मिला नहीं उस दिन····किन्तु उनका यह हिंसात्मक विद्रोह भी तो अनुचित है····।

जो हो शान्तिस्वरूप कौटुम्बिक प्रसंगों पर पहले की अपेक्षा अधिक सतर्क हो गये। लता पर उन्होंने कड़ी दृष्टि रखना आरम्भ कर दी। इस सब में वे सफल हुये अथवा असफल····इस ओर से वे निश्चिन्त थे। पुत्री को आचार-विचार व व्यावहारिक सीमायें बताने में अपनी पत्नी से उन्हें कितना सहयोग मिलना चाहिये था और कितना मिला इस ओर भी वे विशेष चिन्तित न थे। आदेशों से—कुछ बन्धनों से काम चल जायगा····इतना भर सोचना उनके लिये बहुत था।

किन्तु ऐसा होता कब है ? ऐसा होता ही नहीं है। ऐसा हुआ भी नहीं।

१५

"दीवानजी""ऐसे नीच लोग भी हो सकते हैं इस दुनिया में""
माँ कल कह रही थीं कि"","" कहते-कहते लता रुक गई।

"हाँ,""दीवानजी, मुझे तो वह दिखाई दे जाय तो जिन्दा गाड़ दूँ""," स्वरूपरानी ने अत्यधिक रोष की मुद्रा में कहा।

"अरे""तो आप लोगों ने यह सुना ही नहीं था," दीवानजी ने किंचित मुस्कराते हुये कहा।

"नहीं सुना था तभी तक अच्छा था। जबसे सुना है—लगता है, यह सब भी कैसे सम्भव हो सकता है? वह तो दिनेश ने बताया था""," स्वरूपरानी ने नाक पर कई सलवटें डालते हुये कहा जैसे कहीं से दुर्गन्धि आ रही हो।

"बहूरानी, आदमी की तस्वीर कितनी बदसूरत है; मन से वह कितना गंदा हो सकता है""जब तक जितना न जानो ठीक है। और लता"", तुमने तो उन लड़कियों को देखा है, एक दिन।"

"कब ? अरे। राम-राम""मैंने उन्हें देखा है, मैंने कभी नहीं देखा। मैं ऐसी सूरत कभी नहीं देख सकती""।"

"जो इस बात को जानते होंगे उनके सामने जब वे पड़ती होंगी""
तो कैसा लगता होगा, मनमें""," स्वरूपरानी ने घृणा की सी-कड़वी डकार लेते हुये कहा।

"हाँ, हर बुरी बात'''दुनिया के बड़े से बड़े''''इससे बड़े तो क्या हो सकते हैं आज के इस सभ्य समाज में''''तो वे दुराचार अनाचार पापाचार—जो कुछ भी कह लो बहूरानी सामने दिखने पर''''सुनाई पड़ने पर''''इससे अधिक ही दूषित दिखते हैं''''किन्तु वे सब होते रहते हैं''''समाज उस सबको पीता रहता है''''।"

"तो समाज और सभ्यता अभी बनी ही नहीं, दीवानजी''''," लता ने गम्भीर मुद्रा में ही हाथ में टिके दिनेश के पत्र को दुबारा देखते हुए कहा।

"बनी क्या''''कहीं ऐसे ही लोगों से बनती है''''ऐसे कुत्सित-कर्मी जब समाज में सभ्यता का जामा पहने घूमते हैं तभी कुछ अच्छा-सा सोचा, समझा और बनाया जाता है।"

एक मौन तैर कर लता और स्वरूपरानी के मन को कुरेदने लगा तभी जैसे दीवानजी ने उन दोनों को किसी पहाड़ी चोटी से उठाकर बहुत नीचे फेंक दिया और वे सहसा कह उठे—"इस दिनेश को क्या समझती हो''''कम या ज्यादा, यह भी उसी बिरादरी का है। इसके हाल न सुनो वही भला है।"

दीवानजी—शान्तिस्वरूप के अभिन्न मित्रों में थे। अवस्था तो इनकी पैंतालीस से ऊपर थी किन्तु स्वभाव की मृदुता और अनुभवों की कठोरता में बड़े-बूढ़ों की भाँति वे प्रत्येक के लिये समान और सरस थे। बच्चों में बच्चे, युवकों में युवक और बूढ़ों में उनके भी चचा। जिन परिवारों में उनका जाना-आना था—स्त्रियाँ व उठती लड़कियाँ उन्हें 'ग्रान्डपा' मानकर उनका स्वागत करती थीं व उनसे अपनी सुख-दुःख की सब कुछ कह लेती थीं। जाना-आना भी उनका उच्च मध्य-वर्गीय परिवारों में था जो आधुनिक वातावरण अपना चुके थे।

उस दिन संध्या समय दीवानजी से अनायास लता ने यह चर्चा छेड़ दी। स्वरूपरानी निकट ही बैठी थीं। किन्तु वार्तालाप जब आकर दिनेश पर अटक गया तब लता तो तिलमिला उठी साथ ही स्वरूप-

रानी को भी वह प्रसंग अप्रिय ही लगा। स्वरूपरानी की आस्था, एक विश्वास की मान्यता, नारी-स्वभाव की भाँति जब जिस पर जम जाती है—सरलता से तो नहीं हटती और तभी दिनेश के प्रति कुछ भी बुरा सुनने के पूर्व स्वरूपरानी ने वार्तालाप भंग करते हुए कहा—"होगा—चलो छोड़ो। तुम लोग तो जिसके पीछे पड़ जाओ बस उसे बुरा-बुरा ही कहते रहते हो.........।"

"हाँ, उसी तरह लोग उस आदमी के पीछे पड़े हुये हैं जिसकी चर्चा बहूरानी अभी कर रही थीं....वह अपनी ही लड़कियों को.........कुत्सित-वासना के विष भरे प्याले पिलाता है.........उसकी इन्द्रिय तृप्ति का वही साधन हैं.........यह उसने खुले रूप में प्रकट कर रखा है तभी कहती हो खोद कर गाड़ दूंगी.........और जो छिपे रूप में.........कम-अधिक उसी से मिलते-जुलते हैं.........उनको, जान नहीं पाई हो न.........तभी वह सुगर-कोटेड-कुनीन.........अन्दर का कड़वा स्वाद भी.........हजम होते-होते छोड़ जायगी.........तब उसका कषैलापन, न जाने कितनी देर तक.........कभी-कभी सदैव के लिये कड़वाहट छोड़ जावेगा।"

और दीवानजी उठकर चल दिये।

"बीबी—तुम भी जानती हो, सुना है, तुमने। हाय.........हाय कैसा-सा लगता होगा," स्वरूपरानी को इधर कुछ सनक-सी हो गई थी; और वे प्रत्येक से उस चर्चा को छेड़ देती, तभी पड़ोस की बीबीजी से भी उन्होंने कहा कि वे लड़कियां मर क्यों न गईं, अपने बाप को उन्होंने जिन्दा ही फूंक क्यों नहीं दिया?

"अरे वह....तुम्हें नहीं मालूम। यहीं, दो तीन बंगले छोड़कर पुरोहित जी—पुरोहित जी करके रहते हैं, उनके एक लड़का है....अरे, वो नीली-सी गाड़ी है उनकी, देखी होगी, और पुरोहित जी तीसरी शादी करके लाये हैं....कुछ भी हो; वह उस लड़के की माँ हुई कि

नहीं""बोलो बहू, बोलो, चुप क्यों हो, माँ है कि नहीं वह उसकी"",” बीबी ने उसी तेजी में कह डाला।

“बीबी, हुई क्यों नहीं, जरूर हुई। लेकिन वे दोनों तो उसी की लड़कियाँ हैं""स्वरूपरानी को लगा जैसे स्त्रियों की अपनी तस्वीर ही संसार में सबसे अधिक गन्दी है—या की जाती है।

और स्वरूपरानी जैसे बेहोश-सी होने लगीं जब पड़ोस वाली बीबी ने कहा—और किसकी लड़कियाँ हैं—अरे इसी तुम्हारे दीवान के बच्चे की, जो रोज तुम्हारे यहाँ आता है।”

कमरे में मौन की-सी कालिमा छा गई। नाश्ते की तश्तरियाँ—विषैली-सी दिखीं और रक्खी रहीं। लता उठकर जैसे दम तोड़ने बाहर चली गई।

× × ×

“चलिये—मेरा मन बड़ा वैसा-सा हो रहा है। चलिये जरूर चलिये।”

“कहाँ चलोगी ? आओ चलो। लेकिन मेरी रानी ! कैसी-सी हो रही हो, आज।”

“चलिये आपके बगीचे ही चलूँगी।”

और दिनेश मुस्करा दिया। उसके नेत्रों में जैसे एक ज्योति उभर आई।

लता ने हैंडिल पकड़ कर कार का दरवाजा खोल लिया और अन्दर जा बैठी।

दिनेश, लता की आँखों में तैर गया और झूमकर उसके निकट आ बैठा। कार चल दी।

“तो बगीचे चलने का साहस""कर रही हो” लता के दायें गाल पर उंगली गड़ाते हुये दिनेश बोला—“चल तो रही हो""पर""वहाँ कुछ तो तैयारी नहीं।”

“चुपचाप चले चलिये।”

"और तुम्हारी वह शर्त...।"

"मैं कह रही हूँ—चुपचाप चले चलिये न," लता ने पावदान पर दृष्टि गड़ाये हुये ही कहा।

दिनेश ने कार उसी ओर मोड़ दी। आज शान्तिस्वरूप स्वरूपरानी को साथ लेकर देहली के निकटवर्ती गांवों में अपनी जमींदारी देखने गये थे। लता "सर में दर्द है," कहकर रुक गई। और वास्तव में लता का अब कहीं मन नहीं लगता था। उसे अब चैन मिलता तो केवल दिनेश की गोद में; वह हंसती तो अब केवल दिनेश की बातों में; वह खिलती तो केवल उसके ओठों में।

दोष—वह दिनेश में कैसा? जिस किसी ने कहा भी तो वह उन पर ओठ दाब कर रह गई। अपने स्नेही में उसे कोई दोष दिखता ही कब था?

दोष की परिभाषा क्या है? इसे उसे समझने की आवश्यकता ही कब है? वह प्यार करना जानती है—जान पाई है और केवल प्यार पर ही आश्रित है। वह हृदय के भार से जो दबी है—मस्तिष्क को बल क्यों दे? कौन ऐसे में मस्तिष्क को कुरेदता है?

और इधर दिनेश भी लतामय हो गया था। उसके संगी-साथी अब जब भी कोई नया प्रस्ताव लाते तो वह मना तो न करता, किन्तु टाल देता था। नये आकर्षणों को स्थगित करके वह अपने कमरे से चलता तो कांच के छोटे गिलास में भरी 'शैम्पेन' को खाली कर देता और बाहर हो जाता।

परिवर्तन भी एक आकर्षण है और ऐसा आकर्षण जो गतियां बांध देता है—नई गतियां प्रवाहित कर देता है।

———

१६

दिनेश की पत्नी, मान्यताओं में डूबी, पति-परायणता के कर्तव्यों में प्रसन्न—अपनी अबोधता मान, अपने भाग्य को सराह कर, प्रत्येक अपराध को अपराध न जान क्षमा-दान करती चली जा रही थी।

अपने पति की सौन्दर्य-माप में तो वह कहीं न थी—किन्तु यों असुन्दर भी न थी। उसके तन में भी एक हृदय धक्-धक् करके चलता था। विवाह के बाद—बस, उसने घड़ी की टक्-टक् को ही जाना था। दाम्पत्य-प्रेम रूपी स्नेह-सिंचन से वह उतनी ही दूर थी जितनी उससे उसकी मौत जिसे वह चाहकर भी पास नहीं बुला पाती थी।

इधर उसने सुन लिया कि दिनेश के बाहरी खेल-खिलौने अब कम हो गये हैं। उसने सुना कि दिनेश एकाग्र हो गया है। बात बढ़ चुकी है। दबी आवाज शादी तक की जानें लगी है। तब वह तड़प उठी—दूसरी शादी—यह स्वीकार से बहुत आगे की बात थी। उसने सोचा—'अब उसे हाथ-पैर हिलाने चाहियें।'

एक दिन उसे सूचना मिली—कोई लड़की बगीचे गई थी। तो उस दिन बड़ी सजावट हुई थी—पलंग सजा था—दीवारें सजी थीं—मालायें बनी थीं। तो वह सोचती रही—'जितना जो कुछ वह अब तक जान पाई है—ये बाजार की लड़कियां तो स्वयं सजी रहती हैं—इनके घर

अपने आप मजे रहते हैं—ये यों सजावट करा कर कहाँ जाती हैं ? तब—यह नया रंग कैसा ?'

और वह यह जानती थी कि पति के क्रिया-कलापों से ऊब कर ही घर के लोगों ने कहना सुनना वन्द कर दिया है। उसके जेठजी—वगीचे जाना वन्द कर चुके हैं—ये कहते हैं—वहाँ पाप होता है किन्तु उस पाप को रोकना उनके वश का नहीं।

तब जब माली ने वताया कि फूल-मालायें उसी ने गूंथी थीं। वह उस लड़की को भी जानता है क्योंकि उसका भाई उस लड़की के बंगले पर माली है। लड़की बड़े भारी और भले घर की है। तो, दिनेश की पत्नी ने उस दिन निश्चय किया कि माली को साथ लेकर वह बगीचा देखने जायगी और बिना किसी की सहायता के ही वह अपने सौभाग्य को बचावेगी क्योंकि माली को किसी का नाम-वाम मालूम न था।

और वह बगीचे चल दी।

दिनेश व लता जब बगीचे पहुँचे तो संध्या निकट थी। लता ने कार से उतरते-उतरते दिनेश से कहा—"सुनिये, पहले यह समझ लीजिये कि मैं आज यहाँ क्यों आई हूँ।"

"इसमें समझना क्या है ?" दिनेश मुस्करा दिया और अपना दायाँ हाथ लता के कक्ष-भाग में फैलाता हुआ बोला—"आओ''''न।"

"बस''''उस स्थान के दर्शन करूंगी। उस भूमि को चूमूंगी, और'''' बस''''लौट आऊंगी," लता ने अपनी उठी गर्दन तनिक बल देकर घुमाते हुये कहा।"

दिनेश का अन्तर्मन विहँस उठा।

तभी माली सामने से दौड़ा। आते-आते वह रुका और जैसे घवड़ाहट में उलटा लौट गया। दिनेश तुरन्त समझ गया—कमरे में कोई और है। बगीचा, घर के पुरुष-वर्ग की एक आरामगाह जो था। तब लता को कार में जा बैठने का आदेश देकर वह माली की ओर बढ़ा। माली तब तक कमरे में प्रवेश कर चुका था। खांसते हुये दिनेश कमरे के अंदर

गया तो देखकर विस्मित हो उठा""उसकी पत्नी पलंग पर लेटी थी""
उसपर—जो सदैव ही जी भर कर फूलों का रस व गन्ध पीता रहता था व यौवन के भार से दबकर जिसकी लचकीली निवार की कमर और लोचदार होती जाती थी।

माली—दिनेश की पत्नी से कुछ कानाफूसी कर रहा था। उसकी बात पर वह ज्योंही उठने का उपक्रम करने लगी कि उसके नेत्र दिनेश से टकरा गये।

दिनेश—चुपचाप लौट आया। आकर उसने लता से बताया कि उसके चाचाजी कमरे में हैं। लता कांप गई। उसकी अव्यवस्था प्रकट हो उसके पूर्व ही कार का स्विच दब गया और उसके साथ ही स्वर गूंजा—"सुनिये—रुक जाइये""।"

दिनेश—सुना अनसुना करके आगे बढ़ गया किन्तु किसी स्त्री का स्वर पहचान कर लता ने तुरन्त कहा—"गाड़ी रोकिये। कोई पुकार रहा है।"

विवश, दिनेश ने अपनी गर्दन घुमाने का अभिनय किया और देखा कि उसकी पत्नी क्यारियों के बीच से होकर तेजी से उस ओर बढ़ती चली आरही है।

क्षण भर में दिनेश की पत्नी कार तक आ पहुँची। दिनेश क्रोध में तमतमा रहा था। खिड़की से झांक कर—एक तीव्र-दृष्टि उसने कार के अन्दर फेंकी। लता हैरान थी। उसने अपनी दृष्टि घुमाकर टिकाई तो देखा दिनेश कार के बाहर बगीचे में कहीं खो गया है। उसे लगा दिनेश उसके निकट बैठे रहकर भी कहीं उड़-सा गया है। तभी एक तीखी आवाज उभरी—"आइये, देवीजी, बाहर आइये। क्या औरतों से नफरत है—जो उधर देखना भी अच्छा नहीं लगता""।"

लता के सामने जैसे कार उलट गई, धरती खिसक गई, वह कहीं समा गई—दिनेश कहीं डूब गया""और तीव्रता का वही स्वर तो उसने अपने होश में कभी न सुना था। वह कार से उतर पड़ने को हिली-

हुली। मन उसका बैठा जा रहा था। तभी दिनेश ने कार का 'स्विच' पुनः दबा दिया और पुनः तेज़ आवाज़ ने कार को कंपा दिया—"एक कदम भी आगे बढ़े तो सामने लेट जाऊँगी''''," पत्नी बोली।

हताश लता कार से नीचे उतरी। दिनेश की पत्नी चुपचाप आगे बढ़ चली। लता हड़बड़ाई-सी उसके पीछे हो ली। दिनेश कार में बैठा रहा।

"तो तुम्हीं शान्तिस्वरूप की लड़की हो।" सोफे पर बैठते हुये दिनेश की पत्नी ने कहा।

लता ने देखा अवस्था में उससे एक-दो वर्ष कम या अधिक—वह उसपर ऐसी कठोरता से गुर्रा रही थी जैसे लता उसकी कोई दासी हो—अथवा''''तभी अपने पिता का नाम सुनते ही लता चौंकी। अब तक उसने अनुमान लगा लिया था कि वह—श्रीमान् दिनेश साहब बहादुर की देवी जी हैं। और हठात्—विचलित से स्वर में उसने 'हाँ' कह दिया।

"बहुत घूमना आता है'''' ।"

लता अब तक खड़ी थी। तुरन्त लौटने के ध्यान में उसने दृष्टि घुमाई तो देखा दिनेश कमरे में नहीं आया है। निरुत्तर-सी पहले तो वह कुछ सोच न सकी किन्तु दृढ़ता की लहर जब मस्तिष्क में तैरने लगी तो कुछ सोचकर ही वह सोफे पर बैठ गई और बोली—"हाँ, कहिये क्या कहना चाहती हैं ? और''''पहले तो यह बताइये कि आप हैं कौन ?"

"अरे वा''''मुझी से पूछ रही हो।"

लता ने अनुभव किया जैसे 'हाईवाल्ट' का करेंट उसके मस्तिष्क में छुआ दिया गया है और वह सुन्न होती जा रही है।

तभी भर्राये गले से दिनेश की पत्नी ने कह डाला—"ठीक है'''' जाओ, जो चाहे करो। हाँ, किसी का विश्वास यों जल्दी मत कर लिया करो, इनका भी।"

तभी कार के हार्न का चीखता स्वर अन्दर कमरे में प्रवेश कर गया और दौड़कर—हाँफते हुये, लता कार में आ बैठी।

कार चल दी। लता सर थामे बैठी रही। उसके कानों में स्वर गूँजते रहे—वे स्वर जो चलते-चलते दिनेश की पत्नी ने बरबस उसके कानों को पिला दिये थे—"मुझसे मत घबराना। मैं यों ही हूँ। मुझे कोई नुकसान या रुकावट देनी आती ही नहीं""।"

और रुदन की वह चीख जो हार्न के तैश में मिट गई थी अब लता को रुला रही थी।

× × × ×

दिनेश की पत्नी के प्रति, उसके भोलेपन के प्रति, उसकी अनचाही उदारता के प्रति, उसके सरल स्नेह के प्रति, उसके आत्म-तोष के प्रति, उसके रुदन के प्रति, उसके विवश-विश्वास और पति-आस्था के प्रति—लता को एक दयनीय समवेदना का अनुभव हो रहा था। लता सोचती रही—'उसकी उस कराह में एक टीस थी। उसके प्रति अन्याय होता रहा है, हो रहा है। सन्तोष की परम सीमा को हठात् छुये रह कर; अपनी निःसहायस्था में सहन की गरिमा को पीकर वह मूक है। वास्तव में इस सब में—इस क्षण—उसका अपना—लता का—भी बहुत बड़ा हाथ है। तब वह विचार-मग्न हो गई—उसके—लता के—इस अनुराग में क्या है? मूलतः इस प्रेम की नींव तो बड़ी कमज़ोर है। एक नारी को दूसरी नारी से इतनी वेदना मिले—हाय, यह कैसा है? सचमुच इस प्रकार का प्यार—ये अदृश्य-मिलन अवांछनीय है। पाप है। और इसका दूसरा छोर दाम्पत्य-सूत्र-बन्धन है—वह हो तो ठीक है। पर वह सम्भव नहीं, कभी नहीं। ऐसी स्थिति में जब एक पत्नी सिसक रही है—तो यह वास्तव में घृणित है—अमान्य है। लता बैठी-बैठी तड़प उठी। उसी क्षण कार ने एक तेज घुमाव लिया और वैसे ही लता की विचार-शृङ्खला भी घूम गई।

दिनेश भी उलझन के ताने-बाने बुनता—चुपचाप कार चलाता चला गया। वह बोला नहीं। तभी लता के शरीर में निकटवर्ती दिनेश के स्पर्श की सिहरन दौड़ गई। न जाने कैसे से विचित्र पुलक ने—कुछ क्षण पूर्व के मनोविकार को दाबकर—नये-से उन्माद को उभार दिया। स्पर्श का वह स्पन्द—वह रोक न सकी। अनेक अवसरों के मिलन की सुखानुभूतियों में उसका मन तैर गया। अनायास लता चाह उठी कि उसी क्षण वह दिनेश की गोद में इठलाकर डूब जाय—सब कुछ डुबा दे, संसार को डुबा दे—दिनेश की पत्नी को पल भर में डुबा दे—उसे अनुराग चाहिये—तुरन्त—मदा चाहिये।

तभी वह धीरे-से बोली—"कार किनारे लगाओ।"

कार तारकोल की सड़क से उतर कर कच्ची भूमि पर रुक गई—वैसे ही जैसे दिनेश का मन सब ओर दौड़कर थक जाने पर लता की जांघों पर टिक जाना चाहता हो। यमुना की कछारें सामने थीं—अंधियारा घिर आया था। दिनेश का मन घिर आया था। लता का मन घिर आया था। दूर क्षितिज में—आकाश और पृथ्वी के मिलन पर—अंशुमाली अपनी लालिमा छिटका कर—उसकी स्मृति को गहरा बनाकर अभी-अभी प्रयाण कर चुका था। तभी दिनेश उस मांसल विलीनता पर—तारों को छिटका देखकर—खिलखिला-खिलखिलाकर मौन हो रहा था""और सचमुच झपटकर लता दिनेश की गोद में डूब गई—जैसे जन्म-जन्म की उसकी साध—उसकी प्यास उभर आई हो। वह रह-रहकर अपने हाथों से दिनेश को दाबती रही। दिनेश उसे सहलाता-दाबता रहा।

और नारी के प्रति सहज सहानुभूति पुनः जागृत हो उठी। लता को तब लगा—आज उस नारी के प्रति वह सचमुच अत्यधिक द्रवित है जिससे भेंट करके वह अनायास किन्तु अभी-अभी लौटी है। और उसने सोचा—यह अधिकार तो उसका है—जिसको वह यों मिटा रही है। उसे लगा दिनेश अन्यायी है। उसे लगा—दिनेश व्यक्ति का उपासक

नहीं—यह तो सौन्दर्य का कीड़ा है, वासना का चेरा है, लिप्सा का पापमय घेरा है—और उसने दिनेश के बढ़ते हाथों को रोक दिया। लता छिटककर—पुनः व्यवस्थित होकर, अपनी सीट पर सीधी बैठ गई और बोली—"चलिये।"

दिनेश इस अप्रत्याशित व्यवहार पर चौंका। पुनः प्रयत्न करके उसने लता को अपनी जांघों म दाबना चाहा किन्तु लता दृढ़ बनी रही। लता—उस समय पुरुष-वर्ग के विरोध में उद्वेलित हो रही थी—दीवानजी उसके समक्ष नाच गये। वे स्वर उसके कानों में तैर गये—"और दिनेश को तुम लोग क्या समझती हो—वह भी उसी बिरादरी का है।"

विवश—दिनेश ने कार स्टार्ट कर दी। दिनेश अब तक कुछ बोला नहीं था, न तब बोला।

लता व दिनेश—दोनों के मन में विचार आ-आकर वैसे ही उड़ रहे थे जैसे हवा कार की खिड़की के एक ओर से आ-आकर दूसरी ओर को निकल रही थी। कहीं कोई स्थिरता न थी। केवल वे दोनों सन्निकट थे और दोनों ही एक दूसरे पर विजयी।

१७

अमिता की स्मृति में, आज दिनेश रह-रहकर उद्विग्न हो उठता था। अनायास, न जाने क्यों अमिता की बात सोचकर वह सिहर उठता, कांप जाता; उसका मन और तब उसकी आकृति भी करोंचन की भयानकता में बिगड़ती चली जाती। वह अनेक बार चाहता रहा कि अमिता अथवा उसकी स्मृति उससे दूर चली जावे उतनी ही दूर जितना उस क्षण उससे अमिता थी; किन्तु उससे क्या? वह सब कुछ—मन और मस्तिष्क को चबा जाने वाली स्मृति—यों कि उसने अप्रत्याशित वीभत्सता के साथ अमिता को भी तो दबोचा था—उसमें डरावनी कालिमा सदृश आशंकाओं की तह पर तह बिछा रही थी।

तभी गिलास से उसने "ब्लैक एण्ड व्हाइट" का चौथा या पांचवा 'सिप' चढ़ाया और सोफे पर लुढ़क गया।

मुंदी पलकों में उसे अमिता के उभरे यौवन, खुले रूप, मांसल शरीर के स्थान पर एक भुतही-सी—काली-काली, डरावनी तस्वीर दिखाई दी और उसे लगा जैसे वह तस्वीर अपने बीसों पैने नाखूनों से उसे भींच रही है—वह चिल्लाना चाहता है कि तत्क्षण नौकर ने आकर कहा—"बाबू, तार····।"

चौंक कर दिनेश ने आंखें खोलीं और अचकचा कर लिफाफा फाड़ कर तार पढ़ डाला—

डेड

—अमिता

तो अमिता मर गई। पर कैसे और क्यों? दिनेश—उसके समक्ष कारण अस्पष्ट था, और उसे तुरन्त तैयार होकर अभी-अभी तारा के नृत्य-कार्यक्रम में जाना था।

तारा देहली की प्रसिद्ध नृत्य तारिका थी। रसिकों की सम्भ्रान्त मण्डली के सदस्यों से तारा की विशाल कोठी कभी रिक्त न होती। अपने आमोद की रस-सिक्त पिपासा में तारा पर रत्नों, आभूषणों, धन और सब ओर से सिमटकर आये हुये सम्मान की वृष्टि होती।

न्यू-देहली के किसी कोने में इठलाती उसकी कोठी, इतराती हुई उसकी 'व्यूक' कार और तैरती हुई उसकी मादक रूपराशि के उपासक—उसी स्तर के रसज्ञ, धनवान् अथवा प्रथम श्रेणी के 'सोशल एनीमल' होते थे।"

और एक ओर जहां धन के तैश में शान्तिस्वरूप का तारा के यहां आना-जाना था वहीं बुद्धि की विलक्षणता और कार्यों की चतुराई में दिनेश का भी तारा पर विशेषाधिकार था।

जहां एक ओर तीखे स्वभाव की तेजी में तारा कितने ही लखपति लाड़लों को खड़े-खड़े निकालकर दम लेती थी वहां दिनेश को सम्मुख पाकर वह मन की अधीरता में खो जाती। तारा के प्रशंसकों में चर्चा थी कि तारा कभी भी दिनेश को ले उड़ेगी किन्तु तारा की नानी—उसकी अविभाविका—दिनेश को सामने देखकर उसे खड़े-खड़े निकाल देती और तारा से कहती—"देख, फिर न देखूं इस टटपूंजिये को तेरे पास—भंगी कहीं का॰॰॰॰।"

और तारा दबकर भी दिनेश के लिये उभरी रहती।

आज तारा ने अपने वर्ष-दिन पर विशेष समारोह का आयोजन किया था। आमन्त्रितों में नगर की भद्र-समाज के बहुसंख्य व्यक्ति उपस्थित थे। आज प्रातः से ही नगर में इस समारोह की चर्चा थी।

शरद-काल की रसमय रात्रि में समारोह प्रारम्भ हुआ। तारा की कोठी के दोनों छोर कारों की लम्बी कतार ने सड़क को घेर लिया।

सज-धज के साथ व्यक्तियों का आगमन बना रहा। प्रत्येक अपनी श्रद्धा-भक्ति के अनुसार उपहार-सामग्री लाता—तारा के निकट तक जाता—उसकी मुस्कान से जीवन कृत-कृत्य मानता और लॉन पर पड़ी सैकड़ों आराम कुर्सियों पर जहाँ चाहता, बैठता। लॉन में बैठे व्यक्तियों के सत्कार में पचासों "बैरे" अपनी झकाझक पोशाकों में इधर-उधर फुदकते फिर रहे थे। कोई पेय-पदार्थ लिये लपक रहा था तो कोई पान की तश्तरियाँ झुमाता घूम रहा था।

रूप की चांदनी-सी तारा अपने श्वेत वस्त्रों में सजी-सजाई प्रत्येक से झुककर, मुस्कराकर, इठलाकर, हिलोरें ले-लेकर मिलती-जुलती और अनेक बार लान में इधर से उधर तैर जाती। उसकी उभरी नासिका, उसके डुलते हुये कर्ण-फूल, थिरकती पतली उँगलियों में तैरती बहुमूल्य हीरों की झलक कई ओर से फैले "फ्लडलाइट" के प्रकाश में झलझला उठती।

लॉन की हरीतिमा में बिछी कुर्सियाँ जब लगभग भर गईं तो झीने-स्वरों में मधुर-कन्सर्ट 'लाउडस्पीकर' से आ-आकर बाहर बिखरने लगा। तभी एक गत के समाप्त होते ही कार्यक्रमानुसार लोग कोठी की दूसरी ओर—पीछे के लॉन की ओर बढ़ने लगे।

घास की हरी चादर के ऊपर जमी मेजों और कुर्सियों के बीच से जब जलपान की प्लेटों की खनखनाहट थम गई तो लगा सारा समुदाय कोठी के दायें ओर वाले तीसरे विस्तृत लॉन के चारों ओर घिरी पुष्प-क्यारियों की गन्ध पीता, उमड़ता चला जा रहा है।

यहीं बीचोंबीच एक छोटा-सा प्लेटफार्म बनाया गया था जिसके

चारों ओर पंक्तिबद्ध कुर्सियों के निकिलदार हत्थों को थामे रसज्ञ-समुदाय विराज गया। प्लेटफार्म पर आगे की ओर वीणा, विचित्र-वीणा, सरोद, वायलिन, हारमोनियम, तबले व अन्य वाद्य-यन्त्र सजाकर रक्खे हुये थे।

एक-एक, दो-दो करके वादकों ने प्लेटफार्म पर अपने-अपने स्थान ग्रहण किये और तब सभी के उत्सुक नेत्र कुछ देखने व पिपासाकुल कर्ण कुछ सुनने को आतुर हो गये।

लगभग ढ़ाई-सौ चुने हुये नागरिकों का वह समुदाय सन्न बैठा था। तभी सनसनाहट के साथ एक कार उस लॉन के आगे की ओर वाली फैली सड़क पर आ लगी। 'शो रूम' से अभी-अभी आई उस कार की चका-चौंध ने समुदाय में एक निरीहता तब उत्पन्न की जब सेठ शान्तिस्वरूप ने कार की चाबी तारा की ओर बढ़ा दी। तारा मुस्करा कर झुक गई और तब यौवन की चौबीसवीं सीढ़ी पर अलसाये उसके कजरारे नेत्र विलास की गुदगुदी हरियाली की भांति नीचे बिछी नम हरियाली पर टिक गये।

पांचवें सवारों में—दिनेश भी, वहीं किसी कुर्सी पर टिका था। उसने वह सब देखा। कार का उपहार—उसे क्या सभी को भीस रहा था। और दिनेश उस सब को कैसे पी जाय? वह तो एक चोट थी। सब पर, सर्वाधिक उसपर। वह अपने स्थान से उठा। उसकी जेब में थी—उधार लाई हुई हीरे की अंगूठी—अधिक से अधिक तीन-सौ रुपये मूल्य की। कार के उपहार की वैमनस्यता में जहां एक ओर वह दबा जा रहा था वहां दूसरी ओर उसे यह भी लग रहा था—इस सब के बाद भी साहस करके उसने यदि अपना उपहार तारा को सौंप ही दिया तो बिल का भुगतान''''देखा जाएगा—सोचकर वह दबे पांव बढ़ आया।

तारा उस समय नृत्य के लिये सज्जित होने अन्दर गई हुई थी। दिनेश ने ज्यों ही बरामदे की सीढ़ियों पर पैर रक्खा उसी क्षण तारा—जगमगाती, इठलाती बाहर आई। पुलक की चेतना में वह तन-मन से खिलखिला रही थी। उसके मादक नेत्रों में हाला की बरबती रंगीनी

की हलकी-सी रेखा खिची हुई थी और उसी लड़खड़ाहट के जोश में उसने दिनेश का हाथ थाम लिया। स्टेज की ओर बढ़ने की शीघ्रता में वह दिनेश को लिये हुये आगे बढ़ आई।

वादकों ने तारा का अभिवादन किया और तारा दिनेश सहित स्टेज पर जा बैठी। उपस्थित समुदाय एक ओर तारा की आभा से जहां आप्लावित हो रहा था वहां दिनेश के उस उच्चासन को देखकर मन ही मन कोई कुढ़ रहा था और तब एक मुस्कान बिखेर कर तारा ने अपने घुंघरू झुमा दिये।

सिक्का जमाने के लिये दिनेश ने अपना काम कर दिखाया जिसकी उलझन में शान्तिस्वरूप उठे और समारोह छोड़कर चले गये।

एक फुसफुसाहट सर्वत्र फैली। तारा भी उससे प्रभावित हुये बिना न रह सकी और तभी तारा की नानी ने रोष-भरी मुद्रा में अन्दर से आकर तारा को एक झिड़की दी। तारा समझी और तभी बहाने से उसने दिनेश को स्टेज से उतार दिया।

कुछ देर तो उस अपमान को पिये दिनेश बैठा रहा किन्तु अन्त में वह भी उठ आया।

कार के उपहार के प्रचार में दिनेश ने पूरा भाग लिया और एक प्रकार से शान्तिस्वरूप के सारे परिवार में उपद्रव मचवा दिया।

चरित्र की अमान्यता को लेकर दिनेश ने सबसे अधिक विष लता के मन में, उसके पिता के विरोध में घोला, और वह बात लता के मन पर बैठती ही चली गई—"पिताजी अपने चारित्रिक—दोष सहित मेरे स्नेह में कैसे बाधक हो सकता है ?"

दिनेश इसमें सफल हुआ। इस प्रकार तारा के उस समारोह ने दिनेश को और अधिक उच्छृङ्खल बना डाला। अब वह खुलकर शान्ति-स्वरूप की बुराई-भलाई करता रहा।

लता ने न जाने क्यों—उस सबका बुरा भी न माना।

१८

आज दिनेश लता को कहीं अन्यत्र न ले जाकर अपने बंगले ही ले आया। बंगले में उसका कमरा—ऐसे स्थान पर, किनारे की ओर था कि किसी के बिना जाने, कोई भी वहाँ जा-आ सकता था। अपनी रंग-रलियों की अमराइयों में एवं रंगीनियों की सम्पन्नता की धूप-छाँव में उसे नित्य ऐसे अवसर बनाने ही पड़ते थे जब दृष्टियाँ बचाकर वह घर आता-जाता अथवा किसी को लाता, ले जाता।

और उसी भाँति—बड़े दिनों की अनुनय-विनय के उपरांत—'हाँ-न' के झूलते हिंडोलों में हिचकोले खाता, आज वह लता को वहाँ भी ले ही आया।

कमरे में बाईं ओर एक बड़ा-सा तख्त पड़ा था जिसपर स्वच्छ चादर बिछी थी। क्वारे—यौवन-सी दूधिया चादर पर कहीं कोई सलवट तक न थी और उसपर टिके प्यार के प्यासे से कई गाव-तकिये, लग रहा था उस मक्खन-सी चादर को चूम रहे थे।

तख्त के ठीक सामने कमरे के साइज़-भर की पूरी-सी आलमारी दीवाल से सटकर फिट की हुई थी। आलमारी में तीन विभाग ऐसे ढंग से बनाये गये थे कि एक ओर के कई खाने रंगीन शर्बत और प्यालों के अनेक प्रकारों से भरकर एक छोटा-मोटा 'मयखाना' बना रहे थे। बीच के खाने में बीसों हैंगरों पर कपड़े टंगे थे जिसके द्वार को बन्द करने पर

'लुकिंग-ग्लास' से सामने दीवार पर टंगें 'शंकर-पार्वती' के चित्र की छाया चमककर रह जाती थी। तीसरे विभाग में तह किये हुये कपड़े, ऊपर के खाने में प्रसाधान्य की कुछ सामग्री, शीशियाँ व डब्बे चुने हुये रक्खे थे।

कमरे का वातावरण ऐसा सुनसान था—लग रहा था मानो—वहाँ कोई रहता ही न हो और तभी वह नीरवता खिलखिलाकर हंस दी; लगा शान्त गुंजन की गीत-धारा कहीं से प्रवेश कर रही हो और सचमुच उसी खिलखिलाहट में लता चुपके से आकर तखत पर बैठ गई।

एक दृष्टि में उसने दीवारों को झांक डाला। पैर पर पैर रखकर दोनों हाथों की उंगलियों का फांस बनाकर पैर के घुटनों को उसने उनसे दाब रक्खा था और पल-पल में ऊपर उठकर उसका एक पैर हिल जाता था। दूसरे पैर की चप्पल—सीमेंट के सफेद फर्श पर प्यार में मन की दृढ़ता लिये—जमी हुई थी। कमरे के प्रत्येक द्वार पर भूरे रंग की रेशमी जाली के पर्दे लहरा रहे थे। दो कोनों पर फूलदान में—सदाबहार फूलों के गुच्छे सजे हुये थे।

लता की दृष्टि कमरे के चतुर्दिक घूम कर जो लौटी तो उसने देखा सामने दिनेश—द्वार पर पड़े पर्दे की दो ओर की झालकर को दोनों हाथों में भींचे खड़ा है और एकटक लता को देख रहा है। लता की उचटती दृष्टि लजाकर दूसरी ओर को घूम गई। दिनेश के उस दृष्टिपात की मादकता में वह कुलबुलाई और तब जैसे सम्भलते हुये बोली—"इधर आओ''''न''''।"

और उन्माद के आवेश में दिनेश लता पर टूट पड़ा।

अचकचा कर दिनेश उठा और एक कोने पर छोटी गोल मेज पर रक्खी सुराही के पानी को कांच के गिलास मे भरकर बोला—'पिओगी''''''''।"

"प्यास नहीं है''''।"

"हूँ....." कहते हुये दिनेश मुसकराया और यौवन के-से भरे गिलास को खाली कर गया।

तभी आगे बढ़कर दिनेश ने लता की उंगलियां पकड़कर उठाते हुये कहा—"आओ अन्दर चलें..... ।"

मन के धैर्य के बांध को कसकर थामे हुये आत्म-विश्वास की नाव को आगे की ओर बढ़ाती वह उठ खड़ी हुई और दिनेश के साथ हो ली।

उस कमरे के बाद—चौड़ी-सी एक बन्द गैलरी थी। इसमें दूर हटकर "बाथरूम" व "लेवेटरी" बने हुये थे। इसको दिनेश शयनागार के रूप में व्यवहार करता था।

गैलरी की बाईं ओर ऊंचा-सा मसहरीदार पलंग बिछा हुआ था। पलंग की दमक से लग रहा था जैसे उसपर आज विशेष सजावट की गई हो। पलंग की मसहरी फूलों और गोटे की किरणों से सजाई गई थी। मसहरी की छत व किनारों पर फूलों का जाल पड़ा हुआ था, और चमेली के उन फूलों की लटकती मेहरावें—किरणों की लहकती-रुपहली चांदनी—धुले आकाश में छिटके तारों की धवल चांदनी-सी प्रतीत हो रही थी।

इसके अतिरिक्त भी सारी गैलरी—हरियाली की झालरों, पुष्प-वन्दनवारों और कागज की बेलों से सजी हुई थी। गैलरी के बीचोंबीच टिकी गोलमेज के ऊपर शमादान रक्खा हुआ था जिससे अगरबत्ती की फूटती गन्ध गैलरी में आल्हाद बिखेर रही थी। सब ओर से बन्द होने के कारण वहां—किंचित अंधकार था जिसको "क्रीम कलर" का एक बल्ब हटा रहा था।

दिनेश के मधुरिम-मनुहार के अनुरोध के उत्साह में लता—झूमते पगों को थिरकाती—आगे बढ़ी। तभी दिनेश, कमरे का प्रवेशद्वार बन्द कर आया।

लता एक क्षण सहमी-सी खड़ी रही और दिनेश ने अन्दर आकर लता को पलंग की ओर समेटना आरम्भ किया।

"लता—आज तो परागमय—अनुराग की वेला है—आगे बढ़ो न। आज 'न' 'न' करना।" दिनेश ने गलबहियों मे मादकता पिरोते हुये कह डाला।

"देखिये—प्रत्येक बार के इन प्रलोभनों, इन आकर्षणों, इस रसभरी अनुनय से मुझे न घेरिये। मैं हाथ जोड़ती हूँ। मेरे साहस का बांध टूटे नहीं; इसमें मेरी सहायता कीजिये। यह प्यार की एक बड़ी सीमा है.........बहुत बड़ी.........।" कहते-कहते लता ने अपने को बन्धन-मुक्त करने का निरर्थक प्रयास किया।

"चुप.........चुप, लता आज तुम्हें सौगन्ध है, आज यह सब कुछ मत कहो.........आज.........," जैसे दिनेश का कंठ स्वतः अवरुद्ध हो गया।

तब साहस बटोर कर धीमे से स्वर में लता बोली—"बताइये—मुझे प्यार करते हैं न, आप।"

"हां—हां—हां.........।'

"तो मेरा मस्तक ऊंचा बना रहे। तो सचमुच अपना व्यवहार ऐसा रखिये जिससे उस प्रेम के हम वास्तविक अधिकारी बन सकें.........और तब.........और तब,' कहते-कहते लता दिनेश की गोद में लुढ़क गई। किन्तु एक पल में वह उठ बैठी।

"पर....पर....लता, यह सब तुम क्या सोचती हो? क्या सोच जाती हो, तुम? मन का कैसा भुलावा है, यह तुम्हारा? एक भ्रामक-मिथ्या जकड़न," कहते-कहते दिनेश अपना सर लता की गोद में रखकर पलक मूंदे-मूंदे ही उसके हाथों को सहलाता रहा। लता इस समय पलंग की पाटी पर टिकी हुई थी। उसकी अलकों के साथ-साथ ऊपर से लटकती हुई फूलों की मादक झालरें उसके मस्तक व कपोलों पर आ-आकर इठला जाती थीं। तब विवशता में वह दिनेश से अपना हाथ हटा कर हठात् अपने कपोलों व मस्तक पर से उन फूलों को हटाती रही। उन झालरों के बीच से झांकते उसके नयन कटोरे, ऐसे लग रहे

थे—उनमें ऐसी मासूमियत उभर रही थी कि लग रहा था कोई मृग नयनी—बरबस किसी अहेरी के पाश में जकड़ गई हो। और वे मासूम आंखें—खुल-खुलकर सम्मोहन के अतिरेक में—लगता मानों अनेक बार मुंद जाना चाहती हों। तभी गोद में लेटे दिनेश का मस्तक, उसने अपने दाहिने हाथ की कोमल पखुरियों से सहलाना प्रारम्भ किया।

और अनायास उचक कर—मचलता-सा दिनेश आगे बढ़ता हुआ—लता की आंखों में आंखें डाल कर चीख उठा—"लता........।"

"मैं, यहां हूं, तो। लेटे रहिये, न। यों ही चुपचाप। मुझे यों ही सुख पाने दीजिये। उठिये मत। हिलिये मत। अभी जागृतावस्था में बने रहने दीजिये। सुषुप्त-मिलन के लिये अभी समय की कुछ और मांग है," उस क्षण लता ने आवश्यकता से अधिक गम्भीर होकर शान्त-भाव से कहा।

"यह क्या........?" कहते-कहते दिनेश ने बल खाते हुए अपने फैले हाथ लता की कमर में डाल दिये और उसे कसकर दाव लिया।

यों ही—उसी अवस्था में लता ने किंचित मुस्कराते हुये कहा—"यह सब तूफान आप करते कैसे हैं? क्या कोई घर वाला यहां नहीं आ सकता?"

"टोक अपने में नहीं अपनों से ही जो होती है," कहते हुए दिनेश ने लता को शक्ति भर भींच लिया।

"देखो, उठो मत........बस, बस, यों ही लेटी रहो........और सुनो।"

दिनेश कुछ सुनावे उसको समझ कर लता झपट पड़ी। वह अपनी शक्ति भर बल-प्रयोग करके किसी प्रकार अपने को अलग कर पाई।

"अच्छा, अच्छा रुको तो........," हंसते हुये दिनेश बोला।

"आप मेरी बात मानेंगे, न। तभी रुकूंगी अन्यथा नहीं। मैं जा रही हूं।"

"............," दिनेश मौन रहा।

"सुनिये.........," लता ने रूठे दिनेश को हिलाते हुय कहा।

"............," दिनेश ने जैसे निराशा भरी शान्ति से लता को उद्वेलित कर दिया।

लता मनुहार करने को पुनः पलंग पर बैठ गई तभी अचानक बाहर के कमरे के द्वार पर दो तीन थापें पड़ीं जिससे कमरे का वातावरण भीत-गम्भीर हो गया।

अब द्वार पर निरन्तर थापें पड़ना प्रारम्भ हो गईं। लता कांप गई। दिनेश तिलमिला उठा। लता संभली, उठी और गैलरी से निकल कर बाहर वाले कमरे के तखत पर आ बैठी।

एक चीखते मन की बर्बरता को दाबकर दिनेश ने आवेश में द्वार खोला। एक झटके से दिनेश की पत्नी सामने दिखी और उसने कमरे में प्रवेश किया।

दिनेश का बस चलता तो—वह उसे वहीं.........क्या न कर देता। बस चलता तो—दिनेश की पत्नी लता का न मालूम क्या कर डालती। किन्तु बस.........। और वास्तव में लता ही उस क्षण वह सीमा थी जिसको छुये रहकर न दिनेश अपनी पत्नी से कुछ कह पा रहा था न ही उसकी पत्नी अपने तूफान को उभरने दे रही थी। हां, लता ..... 'अब क्या ? इस सोच में नीची गर्दन किये चुपचाप बैठी थी।

दिनेश की पत्नी ने चटखते क्रोध और आवेश के अंगारों से सामने बैठी लता को देखा। लता की नीची दृष्टि में पिघलता मान उसे पानी-पानी कर रहा था। वह वहीं—उसी तखत—उसी धरती में विलीन हो जाना चाहती थी। लता के उस स्थान पर आने के पूर्व का साहस जितना साहसिक था तत्क्षण वह निर्बल से भी निर्बल हो गया था।

बिना कुछ बोले दिनेश की पत्नी सामने के सोफे पर आ बैठी।

द्वार से घूम कर दिनेश ने तीव्र स्वर में कहा—"चली जाओ यहां से।"

"कौन ? मैं.........या यह.........," पत्नी ने अपने आप को तदनन्तर लता की ओर संकेत करके कहा।

एक गहरा सन्नाटा कमरे को घेर रहा था। एक कांपता तूफान गहराई से कमरे में पैठता चला जा रहा था। दिनेश खड़ा का खड़ा रह गया। लता गड़ी की गड़ी रह गई। दिनेश की पत्नी की फुफकार का विष वातावरण पर चढ़ता चला आ रहा था। अनायास वह उठी और अन्दर गैलरी में गई। कमरे में चारों ओर उसने एक वार दृष्टिपात किया। उस सजे-वजे पलंग के पास खड़े होकर एक गहन उच्छ्वास फेंका और तब बाहर आकर, बिना कुछ कहे, वह जाने लगी।

लता थर-थर कांप रही थी। दिनेश चुप खड़ा क्रोध में तमतमा रहा था। वह पक्षाघात की-सी दशा में निश्चेष्ट खड़ा—लता को देखते हुये भी न देखकर अपमानित-सा, लज्जालु-सा—चाह रहा था कि अभी.........अभी जाकर वह अपने को क्या कर डाले—पत्नी को क्या कर डाले.........कैसा व्याघात उपस्थित किया है.........?

तब लता अनायास बढ़ी और बिना कहे सुने चल दी। दिनेश ने आगे बढ़कर उसे रोका। लता झटक कर हट आई और चुपचाप बाहर हो गई। वह अपने को जितना धिक्कारना चाहती थी मसोसन उतनी ही बढ़ रही थी। वह सोच रही थी—उसके द्वारा किसी अन्य स्त्री का यों विनाश नहीं हो सकता—कम से कम—उसके द्वारा। वह मन की भावुकता व तन की प्यास में क्या अनर्थ होते देख रही है ? कैसा सहयोग दे रही है ? कैसा बढ़ावा दे रही है, उस संघर्ष में—जो उसके व दिनेश के प्यार के नाम पर—दिनेश व दिनेश की पत्नी में चल रहा है।

बाहर आकर सड़क पर १०–५ पग चलकर थरथराते पैरों जब उसने निश्चय किया तो सीट पर बैठते ही उसे लगा जैसे वह चक्कर खा रही है। उसने अपने हाथों पहले मुंह ढांपा और तब एक हाथ से सर थाम कर रिक्शे में बैठी रही।

रिक्शे की दौड़ में वह सोचती जा रही थी—

"वह—स्त्री—कितनी असहाय है—कितनी शान्त है—कितनी घुटन है उसके अन्तर्मन में। कैसा अन्याय उसके (लता के) द्वारा उसके प्रति हो रहा है। उसने निश्चय किया—अब वह कदापि दिनेश से नहीं मिलेगी। यों नहीं मिलेगी। सम्बन्ध तोड़ देगी। ऐसा-सा सम्बन्ध निश्चित पाप है। पाप और कुछ नहीं—यही सब पाप है। दूसरों के अधिकारों की चोट में जहां अपना मन धिक्कारे—वही पाप है। तो वह पाप करती चली जा रही है.........ओफ !

तभी रिक्शे वाले ने एक मोड़ पर पूंछा—"कहाँ चलना है, बीबी जी.........।"

लता संभली और अपने बंगले का पता बता कर पुनः विचारों में उलझ कर अपने हाथों को बालों में उलझाते हुये उसने सर को कसकर दाब लिया—उसे लगा वह अपने को रोक कर भी कहीं चीख न उठे।

बंगले आकर उसने देखा सब ओर सन्नाटा है। चुपचाप रिक्शे वाले को पैसे देकर वह अपने कमरे में आ लेटी। संध्या को उसने कुछ नहीं खाया। असन्तोष की तीव्र प्रतिक्रिया में वह—अपने स्थान से हिली-डुली भी नहीं।

उसी संध्या को—एक कड़कता स्वर लता के कानों में गूंजा—

"लता कहाँ है ?"

लता कांप गई। स्वर उसके पिता का था।

"क्यों क्या बात है ?" स्वरूपरानी ने पति को अव्यवस्थित देखकर, सावधानी से प्रश्न किया।

"यहाँ बुलाओ, उसे।"

स्वरूपरानी के साथ ज्यों ही, नीची दृष्टि किये, लता ने कमरे में प्रवेश किया त्यों ही शान्तिस्वरूप ने एक लिफाफे के टुकड़े-टुकड़े करके सोफे के नीचे फेंक दिये और एक कागज स्वरूपरानी की ओर बढ़ा दिया।

गम्भीरता पूर्वक स्वरूपरानी ने उस पत्र को पढ़ा और अपनी दृष्टि पैरों के नीचे पड़े कालीन पर केन्द्रित कर ली। शान्तिस्वरूप गुमसुम बैठे दीवार के चित्र देखते रहे और लता ज्यों की त्यों मूर्तिवत खड़ी रही।

तभी शान्तिस्वरूप के स्वर ने वातावरण की निस्तब्धता भंग की—"लता को दे दो। उसी के लिये आया है।"

अनुमान से लता ने समझ लिया था कि स्थिति गम्भीर है; अतः वह स्वरूपरानी के पीछे, सोफे के सहारे, मौन खड़ी रही। स्वरूपरानी ने भी कागज़ ज्यों का त्यों लता की ओर बढ़ा दिया। लता कागज़ को मुट्ठी में दाबकर चुपचाप अपने कमरे में चली गई। लता सोचती जाती थी—उसने लज्जा व शील का कैसा त्याग किया है? पिता व माताजी के समक्ष—वह दिनेश का पत्र जानकर भी ले आई। वस्तुतः उसे वह छूना भी न चाहिये था किन्तु प्रिय के पुलक का कल्पना-चित्र....

और लता पत्र पढ़ने बैठ गई—

मेरी प्राण,

कल, दूसरी बार, तुम, फूलों की उस शय्या को, अनुराग की उस रसमयी मादक दोपहरी को, अतृप्ति की उस अमिट चाह को, जकड़न की उस कोमल तिलमिलाहट को, और....और....तोड़मरोड़ कर चली गईं।

उस दिन बगीचे में, प्रथमवार, जो कुछ तुमने कहा था, जो कुछ तुम चाहती हो, जिसके अभाव में हमारा मिलन अधूरा ही रह जाता है....उस सब के पीछे, कैसे, क्या करना होगा? कैसे क्या होगा? वह तो बहुत बड़ी बात है। किन्तु मैं, पूर्णतः तत्पर हूं। उसमें तुम्हारे कितने बड़े सहयोग की आवश्यकता है—सोच रक्खो। किन्तु दृढ़ता की इस उखाड़-पछाड़ में, प्रेम की इस विह्वलता में, मिलन की सुखानुभूति में—सदैव व्याघात बना रहे, यह मैं, नहीं चाहता, कभी नहीं चाहता। कुछ कर डालो, तुरन्त।

किन्तु 'न' से जब विवश कर देती हो तो मेरा साहस''''तिलमिला उठता है।

डरती क्यों हो ? इस उचित अनुचित के संघर्ष में मुझे क्यों मार डालना चाहती हो। और, आधुनिक साधनों के इस युग में किसी दैवी आपदा से डरती हो; वह डर व्यर्थ है। तुम बड़ी भोली हो, सुकुमार, कुछ नहीं जानती। वह मैं जानता हूँ। उसके उपाय''''। किन्तु लता, ऐसे मत सताओ।

तो, अब किसी अवसर पर, वह निरीह दर्शन मत बताने लगना। लता—मेरी लता''''बस''''बस''''

तो, कल फिर आओ''''वह पलंग अब भी, वैसे ही, सजा-धजा-सा, किन्तु अपनी प्रेयसि की प्रतीक्षा में, सुनसान, उदास पड़ा है। कमरे की वह सुरभित सुवास, इस क्षण भी, फूट-फूट कर पूरे बंगले को महका रही है। घर वाले हैरान हैं।

और सुनो, तुम्हारे बंगले में नहीं आना चाहता। मुझे वह सन्तोष वहाँ मिलता भी नहीं है।

तुम यहीं आओ''''बस यहीं''''प्यार—प्यार—प्यार—

—दिनेश

लता ने एक के पश्चात् दूसरी लाइन को मादकता के महकते गिलास की तरह पिया, सहमी आँखों से चूमा, उछलते हृदय से पढ़ा और तब कागज के उस स्नेही टुकड़े को पलकों में मूँद लिया। पत्र में बिखरे अनुराग और ऐश्वर्य के उस लोल सागर में वह तैर गई, झूम गई किन्तु तुरन्त पिताजी के निकट से आने वाले प्रसंग को सोचकर वह कुनमुना गई।

वह बुदबुदा उठी—"कितने दुष्ट हो ? क्या-क्या लिख गये हो ? किन्तु पिताजी के हाथों कैसे पड़ा यह ?"

'और शरारती कहीं के, माताजी को तो मना रक्खा है किन्तु वे भी, कम से कम''''यह सब तो कभी भी बरदाश्त नहीं करेंगी। और पिताजी,

कितने पीड़ित हैं,—कितना क्लेश मान रहे हैं। पर''''पर कैसे क्या हो? कैसे समाधान हो—मेरे मन और मस्तिष्क के इस द्वन्द्व का? किन्तु पत्रों में ऐसा खुलापन—ऐसा विषमय अमृत—पिताजी कितने क्रोधित होंगे? क्या करेंगे, क्या सोचेंगे—दुष्ट! सोचते क्यों नहीं? किन्तु मैं ही कब सोच पा रही हूँ।'

तब एक साहस उसके मन में उभरा। मैं डरती नहीं। मुझे रोकेगा, कौन? पिताजी! वे कहने से पहले अपने को तो देखें, समझें। किसी से क्या? मुझ में अपना बल है, अपनी नैतिकता है—मैं न किसी से डरती हूँ, न उनसे ही। कौमार्य की जागरूकता''''कोई खिलवाड़ नहीं। मैं सचेष्ट हूँ—सजग रहूँगी। इस पत्र में भी वही सब गर्द-गुबार भरा है—जिसके बीच वह सदैव घिरा रहता है। मुझे भी घेरना चाहता है। किन्तु—वह है। वह सचमुच एक ऐसी फिसलन है कि''''सम्भले रहना'''' किन्तु मुझे कोई हिलावेगा कैसे? तो—मुझे अब वैसा अवसर आने ही नहीं देना है।

तत्क्षण स्वरूपरानी ने कमरे में प्रवेश किया। उनकी आकृति में समवेदना व उलझन एक साथ घिर आई थी। आते ही उन्होंने लता के बालों में हाथ फेरा और कहने लगीं—"तुमने सुना—अमिता मर गई। अभी-अभी तार आया है।"

लता उचटकर सीधी हो गई और न जाने क्या सोचते-सोचते उसने तकिये में सर दाब लिया।

१६

अमिता की मृत्यु के समाचार के अनन्तर लता में एक ऐसा परिवर्तन प्रकट हुआ कि किसी ने उसमें वैसा पहले कभी देखा ही नहीं था। वह प्रतिक्षण गुमसुम बनी रहती। खाना खाती तो मुँह का कौर हाथ में लिये लिये ही अपने मन व दृष्टि को शून्य में केन्द्रित किये रहती। यों कई-कई मिनट वह न जाने क्या सोचती रहती—तब कोई टोकता—"लता।" और लता कौर मुँह में डाल लेती। लेटे-लेटे वह घंटों एक ओर ही निहारा करती। देखने वाले विशेषतः शान्तिस्वरूप व स्वरूपरानी लता के उस हाव-भाव व व्यवहार से और अधिक शंकित होते चले जा रहे थे। माता-पिता—पुत्री के प्रति किसी अनहोनी के लिये चिन्तातुर बनते चले जा रहे थे। शान्तिस्वरूप ने अपनी तीव्रता त्याग कर मौन घुटन का आश्रय ले लिया था।

लता—किसी भी प्रकार अमिता की मृत्यु का कारण जानने को, न जाने क्यों परेशान थी। जैसे भी हो उसे पता लगना ही चाहिये कि किस प्रकार अमिता को 'नर्सिंग होम' में जाने की आवश्यकता पड़ी; अमिता के पत्र का स्पष्ट आशय क्या था; और अब अमिता की मृत्यु में छिपी उसकी अप्रकट कहानी क्या है? लता इसमें डूब गई। कोई अप्रत्याशित कारण अवश्य ही अमिता की मृत्यु से संबद्ध है—लता का यह निश्चित विश्वास था।

इस सबकी उलझन से स्वरूपरानी भी हैरान थीं। उन्होंने प्रसंग चलाकर अनेक बार इन मिलन-व्यापारों के अन्तर में छिपी वीभत्स प्रतिक्रियाओं और भयानक प्रतिफलों के कथांश लता व उसकी साथिनों को सुनाये। दीवानजी व उनकी लड़कियों की चर्चा तो स्वरूपरानी बात-बात में कर देती थीं।

अभी कल ही उन्हें ज्ञात हुआ था कि पड़ोस के एक वकील साहब की पत्नी कालिन्दी देवी परसों से फरार हैं। वकील साहब के यहाँ एक लड़का आता-जाता था—जिसका पठन-पाठन व भरण-पोषण का भार उन्होंने ले रक्खा था। अब लोग कहते हैं जैसे वकील साहब कहीं से उसे लाये थे—वैसे ही कोई उनसे ले गया। और इस सब किस्सों के साथ स्वरूपरानी अन्त में कह डालतीं—"यह मरी तन-मन की जलन जो चाहे सो कराये।"

सुनकर लड़कियाँ—और कभी लता स्वयं मुस्करा देती। स्वरूप-रानी अपने स्वभाव की रसिकता वैसे में भूल जो जाती थीं।

दो दिन से लग रहा था लता जैसे अमिता के साथ कहीं चली गई थी। उसने दिनेश की भी चिन्ता नहीं की।

उधर दिनेश भी, यह ज्ञात करके कि रामू की असावधानी से एक पत्र शान्तिस्वरूप के हाथ में पड़ गया है—अत्यधिक भीत—गम्भीर बन गया था और लता की ओर से कुछ सूचना पाने तक मौन हो रहा था।

उस दिन संध्या समय रामू ने एक पत्र लाकर दिनेश को दिया।
"साला, जानवर कहीं का! कैसे वह चिट्ठी गड़बड़ हो गई?"

"साहब, माली ने—अचानक अपने मालिक को सामने खड़े देखकर—हकबका कर—उन्हें चिट्ठी दे दी। वह भी जैसे ही मैंने चिट्ठी उसको दी—उसके बाबू बरामदे से निकल आये और उन्होंने देख लिया।"

"माली से छीनकर भाग आता, उल्लू कहीं का।"

"अब बाबू, उन्होंने माली को ऐसी जोर से घुड़का कि मैं भागा तो—लेकिन चिट्ठी माली ही के पास रह गई।"

रामू नौकर की ओर किटकिटाते हुये दिनेश ने पत्र उसके हाथ से ले लिया।

श्रीमान् जी,

आप भी तमाशे के आदमी हैं। आपकी तरह सब लोग सब कुछ ऐसे ही पत्रों में लिखते रहते होंगे ? क्यों श्रीमान् जी ? और ठीक हुआ। सुन तो लिया ही होगा—पत्र मुझसे पहले मेरे पिताजी ने व माताजी ने पढ़ा। जी ! तो ठीक हुआ, न। आप भी कितने बुद्धिमान हैं—

दिनेश मुस्कराते हुये भी अत्यधिक खिन्न था। लता की उस मीठी फटकार में दबी पीडा से वह भुंझला उठा था—आगे भी वह पत्र पढ़ता गया—

और मैं कहती हूं—पूछती हूं—यह सब क्या है ? सुनिये, यह सब कभी नहीं चलेगा, हर्गिज नहीं। आप मेरे प्रति—कुछ भी सोचें, किन्तु मैं हिलूंगी नहीं। सुन लीजिये। मैं इस बात में दृढ़ हूं कि शारीरिक सम्बन्धों की गूंज में अतृप्ति की हुंकार यदि उभरी तो अपने और आपके साथ वह कितनों ही को मसल देगी। वैसा मैं कभी नहीं होने दूंगी। वासना का वेष्टन आप ओढ़े रहिये किन्तु यदि आपने मुझे उसमें लपेटने की चेष्टा की तो मैं उस चादर के टुकड़े-टुकड़े करके नोच फेंकूगी। उसकी खरोंचन यदि आपको लगेगी तो—सहन कीजियेगा। मैं अपनी मान्यताओं से हिल नहीं सकती। व्यर्थ इस झगड़े को आगे मत बढ़ाइये।

और सुनिये—मुझ पर कैसी-कैसी रोक लग चुकी है—जानते हैं।

किन्तु आप ऐसा सब कैसे सोच पाते हैं ?

क्या आपका आत्म-समर्पण—प्यार की वह चरम सीमा—इन्हीं कुरीतियों पर आधारित है ? सम्भवतः इस दिशा में मेरा आपका मतभेद—सम्बन्धों के बीच गहरी खाई बन जावे। आपनें मुझे घेर कर अच्छा नहीं किया। दोष आपका नहीं है। मैं घिरी ही क्यों ? किन्तु क्या नारी-शरीर की कोमलता इतनी निरीह है कि जो चाहे उसे टहनी

की तरह मोड़े-मसोसे ? तब ठीक है—मैं प्रायश्चित करूंगी''''अवश्य।

इस क्षण की मेरी दशा—विचारिये तो। मैं आपसे मिल नहीं सकती। आपके दर्शन नहीं कर पाई, दो दिन हो गये। आपकी छाया मुझसे दूर है—इससे बड़ा क्लेश, व्यक्ति के प्रति इससे बड़ा अत्याचार और क्या हो सकता है, बोलिये। और यह सब हुआ है आपके विचारों और व्यवहारों की उच्छृङ्खलता के कारण।

और दिनेश को जैसे किसी ने आकाश से पृथ्वी पर धम्म से पटक दिया—जब उसने पढ़ा—

आपने सुना—अमिता 'नर्सिंग-होम' में अकेली मर गई। बेचारी—अमिता। हमारे प्यार की निशानी नहीं रही। कितनी दुःखी हूं मैं।''''

....

....

आगे की पंक्तियां दिनेश को धुंधली-सी भुतही-सी कालिमा के रूप में लिपी-लिपी-सी लगीं और पत्र दिनेश ने मोड़कर जेब में डाल लिया। वह उठा और कनाट-सर्कस की ओर घूमने चल दिया।

मार्ग में वह अमिता के अतिरिक्त कुछ भी न सोच सका। तो वह मर गई—उसे मैंने मार डाला—मैंने''''उसे''' और सामने से उसे दो आदमियों ने घेर लिया।

"इधर आइये'''' ।"

"उधर चलिये''''" जब दूसरे अपरिचित व्यक्ति ने तीव्र स्वर में कहा तो दिनेश चौंककर सम्भला और पहचानने की चेष्टा की''''अमिता के पिताजी।

उस समय वह ओडियन के आगे वाले मोड़ से घूमकर 'एम्बेसी' वाले फुटपाथ पर खड़ा था। उसने अपने सिर को एक बार जोर से हिलाया और आंखों को बन्द करके खोला—कहीं कोई नहीं था।

और दिनेश चुपचाप रेस्ट्रां में जा बैठा। 'व्हिस्की' के 'सिप' के साथ वह सोच गया—तो लता, कहती है—उसका वह स्वप्निल-मिलन

अपराध है ···है, अपराध है····

और अमिता का चित्र उसके नेत्रों में नाच गया। 'पैग' उसने टेबिल पर टिका दिया और उसे लगा जैसे उसका सर चक्कर खा रहा है। सम्भलकर उसने पुनः 'कटग्लास' का शरबती 'पैग' उठा लिया और वह ध्यानस्थ होगया—मुझे लता की बात माननी होगी। उसकी निर्मलता की मुझे पूजा करनी ही होगी। पर—पर एकान्त में तन और मन का झगड़ा—मैं नहीं चलने दूंगा—

मन का मिलन जब हो चुका,

तब तन के मिलन में·········

और उसे लगा उसके प्याले की तरलता में अमिता की आकृति तैर रही है·········

और दिनेश योंही उठकर कांपता-सा चल दिया।

× × × ×

एक सप्ताह बीत गया—पत्रों के आवागमन—मात्र के अतिरिक्त दिनेश लता से न मिल सका। विरह की उन तड़पती अनुभूतियों के प्रथम साक्षात् से तिलमिला-तिलमिलाकर दोनों कांप उठे। बस दो बार दिनेश लता के बंगले के फाटक तक आया। दर्शन व दूरस्थ अभिवादन के कठोर कंपन से उत्पीड़ित—वे दोनों ही—तुरन्त उलटे पैरों लौट गये। लता भागकर अपने कमरे में आई और सिसककर रह गई। दिनेश के पग—चाहकर भी फाटक के घेरे को न लांघ सके। सामने खड़ा चौकीदार—एहसानों से लदा परिचित न होकर—एक सजग व कठोर प्रहरी-सा दिखाई दिया और दिनेश सूनी सड़क पर मन की दीनता लपेटे लौट पड़ा।

मार्ग में वह सोचता जाता था। यह नहीं चल सकता। यह बन्धन तोड़ना होगा—टूटेगा ही। और शान्तिस्वरूप के वे ऐहसान—उनको भी वह समाप्त कर देगा। एक वर्ष पूर्व, दिनेश ने शान्तिस्वरूप से १५ हजार रुपया, अति शीघ्र लौटा देने के वचन पर लिया था। आज

वह चाह रहा था कि उसी क्षण वह उस रुपये को लेजाकर उनके सामने पटक दे। किन्तु वह अभिमान कल्पना व आवेश-मात्र ही जो था। उस समय उसकी स्थिति वैसी थी कब ? प्रेम-व्यवहार के अतिरिक्त इन्द्रिय-लोलुपता व वासना की लपलपाहट में उसने नोटों के पुलन्दे अपने हाथों से कोमल कमलिनियों, कांच के प्यालों में हिलते डुलते हहरते गरल के बिलों के पेमेंट और 'फ्लश' की 'ब्लाइंड' चालों में दाव दिये थे।

विरही अनुराग के उस तात्क्षणिक अनुभव के साथ-साथ आर्थिक संकटों का घेरा भी दिनेश को लपेट रहा था। मदिरालय, प्याला, हाला, मधुशाला, मधुबाला, भोला साकी, सितार, हारमोनियम और बांसुरी की सुरीली तानों, तबलों की झनझनाहट, कार, पैट्रोल, फरमायशों, उपहारों, सिनमा, घुमाइयां, गोष्ठियां, ९९९, कनॉट सर्कस, न्यू-चावड़ी, काश्मीरी गेट, विंडसर प्लेस के बन्द कमरों की खुली तस्वीरों ने उसकी नस-नस ढीली कर दी थी और ऊपर से रईस— बेकारी। इसी सप्ताह उसकी कार की सर्विस के बाद वर्कशाप से 'डेलीवरी' इसलिये नहीं हो पाई कि — पिछले बिलों का भुगतान — कई हजार रुपये — होना था और कार प्राइवेट न रहकर कम्पनी की होगई थी।

दूकान व मकान का पैतृक हिस्सा—वह कई वर्ष से निबटाता चला आरहा था। अब निबट चुका था। इधर-उधर के उधार का आधार अब निराधार हो रहा था। चलती गाड़ी ठप्प हो रही थी। फिर भी जन्मपत्र के केन्द्र में कोई ऐसा ग्रह डटा हुआ था कि काम सब चल रहे थे। बाहरी झकाझक ज्यों की त्यों थी।

आज उसे सूचना मिली कि लता के छोटे भाई का वर्ष दिन बड़े समारोह से मनाया जा रहा है। वह वहां जाने को जितना लालायित था उतनी ही जाने में रुकावटें थीं। उन नई परिस्थितियों के अतिरिक्त निमन्त्रण का अभाव भी एक तिलमिलाहट थी। इस पर भी वह सोच-साच कर बाजार गया। उतनी ही-सी बात पर हजार दो हजार रुपयों का सामान वह उठा लाया और जंचाकर, रामू के साथ उसने कई नौकर

करके, सामान शान्तिस्वरूप के निवास-स्थान पर भेज दिया।

सामान मिला। स्वरूपरानी मुसकराईं। वह सब देख-भालकर उपस्थित स्त्रियां फुसफुसाईं। वह जो उनको अपनी बुद्धि से कुछ विचित्र-सी उत्पत्ति जो करनी—और कुछेक पुरुष भी हैरान हुये। सर्वत्र एक ही स्वर—"इतना सामान। देखा ! वहां से आया है। उसी""के यहां से।"

और व्यवहारवश—मान—मर्यादावश, स्वरूपरानी वह सब लौटा न सकीं। लता वातावरण की फुसफुसाहट के होते हुये भी अपने—उन पर—मन ही मन पुलकित हो रही थी। यह उसका ही सम्मान तो था, न। साथिनों में से कई ने आकर उसे गुदगुदाया भी। वह गम्भीर-मुस्कराहट में भी पूर्णतः मौन बनी रही। स्थिति कुछ विशेष नाजुक जो थी।

दिनेश भी खिल उठा जब रामू ने लौटकर सूचना दी कि सामान रख लिया गया।

दिनेश ने नौकर से प्रश्न किया—"किसी ने कुछ कहा ?"

"हां—बहूजी कह रही थीं—दिनेश को आते ही भेज दो।"

निमन्त्रण की उस खानापूरी से मन ही मन कुढ़ते हुये दिनेश ने पुनः पूछा—"और बीबीजी ?"

"वह तो मिली नहीं।"

और दिनेश ने देखा सामने फाटक से शान्तिस्वरूप की कार घुसी और पोर्टिको में आ लगी।

गाड़ी को रोककर ड्राइवर ने एक-एक करके सारा सामान दिनेश के समक्ष बरामदे की भूमि पर रख दिया।

"लालाजी ने वापिस भेजा है," कहते हुये ड्राइवर ने गाड़ी हिलाई और चल दिया।

यों जैसे वह दिनेश का मन खसोटकर लिये जा रहा हो। जैसे शान्तिस्वरूप की प्रतिक्रिया का तमाचा लाकर—ड्राइवर दिनेश को सम्भला गया और चल दिया।

सामने खड़े-खड़े दिनेश सोच रहा था—"क्रेडिट मेमी पर आये सामान की यह दुर्गति....।"

मानसिक वेदना के उस उद्वेलन में उसने पलकें मूंदीं तो उसे अमिता का चित्र पुतलियों में नाचता दिखाई दिया। झपटकर उसने अपने नेत्र खोले तो सामने के फर्श पर रक्खा सामान मुसकराता प्रतीत हुआ।

तभी अन्दर से दिनेश की पत्नी ने आते ही कह डाला—"यह क्या कहीं से आया है ?" कहते-कहते उसने नौकर को पुकारा और उसके आते ही आदेश दिया—"देखो, यह सामान—कमरे में पहुँचा दो।"

अपनी पत्नी के उस भोलेपन को देखकर सचमुच आज पहली बार उसके मन में सहानुभूति के अकिंचन भाव अनायास जाग उठे। किन्तु अमिता की मृत्यु-समाचार की गूंज से वह उस समय भी जैसे कांप रहा था।

× × ×

लता चाह रही थी, वह अभी वैसे ही दौड़कर दिनेश के पास जावे। उसके पैरों पर गिर कर क्षमा-याचना करे। वह कहे—"पिताजी की बातों का बुरा मत मानो, मेरे देवता ! सब के पिता ऐसे ही होते हैं।

पर वह जा भी तो नहीं सकती। वह भी तो पिता का बन्धन था, न। समाज ने ऐसे बन्धन क्यों बनाये ? क्यों माने ?

× × ×

सामान लौटा—इसकी चर्चा, समारोह में उपस्थित समुदाय में—सामान आने के समय से अधिक तीव्र रूप में चलती रही। उस सब प्रसंग को लेकर जैसे रंग में भंग हो गया। लता—सब से अलग कमरे में पड़ी सिसकियाँ भरती रही। स्वरूपरानी को अपने पति का वह तमाशा अच्छा नहीं लगा। शान्तिस्वरूप रह-रहकर बिगड़ रहे थे—"यह सब पाजीपन है, शरारत है। जब हमने....तब यह सब सामान।" और वे मन ही मन बुदबुदाते जाते—"लता ने कहा होगा। अवश्य उसी के कारण आया है। लता को सम्भालना ही ...होगा।

भोजन के समय—सब ने लता को विवश कर दिया। वह बाहर आई किन्तु उसकी दृष्टि भीत-कपोती की तरह कांपती हुई एक ओर ही टिकी रही।

इस समारोह के प्रसंग को लेकर जो एक छोटा-मोटा विवाद उठ खड़ा हुआ उसी के परिणामस्वरूप—दूसरे ही दिन, शान्तिस्वरूप लता के लिये वर खोजने चल दिये। जाते समय उन्होंने बंगले के एक-एक नौकर को डांट-डांट कर, कसम खिला-खिलाकर, स्वरूपरानी को अनेक प्रकार से समझाकर, मीठी-ताड़ना देकर—किन्तु लता से बिना बोले ही, वे चले गये।

पिताजी उसके बिना नाश्ता नहीं करते थ। दोपहर को आना अनिश्चित होने के कारण बच्चे खाना खा लेते थे। किन्तु रात्रि में लता व उसके पिताजी साथ बैठकर—नित्य—भोजन करते थे। शान्तिस्वरूप व लता में खूब घुटती थी। किन्तु लता ने आज पहली बार अनुभव किया कि पिताजी बिना बोले चले गये जब कि कहीं भी बाहर जाते समय लता को घर का बड़ा-बूढ़ा मानकर शान्तिस्वरूप सारे आदेश उसी को दे जाते थे कि उनकी अनुपस्थिति में लता घर की बाग-डोर सम्भाले। दिनेश की रुपहली धूप में, सुनहली चांदनी में, मादक-अनुराग रश्मियों में लता जो खोई-खोई रहती थी—आज प्रथम बार अनुभव कर पाई कि ओफ! उसने महीनों से पिताजी के साथ न नाश्ता किया है न भोजन। किन्तु वह सब कैसे हुआ? ऐसे में वह सब कैसे होता है? आत्मीयता की वास्तविक कड़ी यों बाह्य-सम्मोहन में कैसे विच्छिन्न हो पाती है। अपने अनुराग की धूमिल-प्रखरता में पिता का स्नेह—वह यों खो दे; कैसा परिहास है वह सब।

और दूसरी ओर वह सोचती—ऐसा क्यों हो रहा है? पिताजी के रोष व मेरी स्वयं की उदासीनता का वह कैसा-सा कारण है? क्या पारस्परिक सम्बन्धों की प्राकृतिक गूंज में विचार-स्वातन्त्र्य अथवा वैयक्तिक-चुनाव का कोई मूल्य ही नहीं। पिताजी मुझे किसी खूंटे से

बांध दें; पात्र-कुपात्र की मान्यता केवल उन्हीं की श्रेष्ठता पाकर मुझ पर थोप दी जावे; धन और जन की योग्यता को ही चाहे उनका श्रेय प्राप्त हो—वह तो ठीक। किन्तु मैं अपने भावी-जीवन की रेखायें खींच पाने में केवल इस कारण असमर्थ हूँ कि हमारी पीढ़ी मस्तिष्क से नहीं हृदय से कार्य करती है—तो—तो प्रकृति क्यों नहीं करती कि मानव शरीर से हृदय नाम की वस्तु ही मिटा दे—तब, तब तो ये प्यार-अनुराग भी मिट ही जावेंगे—अन्यथा""मेरा मन जिसे चाह रहा है—वह कुछ विशेष है। वह अवश्य श्रेय है, प्रेय है—तभी तो उसने मेरे सब स्नेह—बन्धनों को मिटाकर केवल अपना प्रेम-बन्धन कस रक्खा है। जितना मैंने सुना है—किसी के पिता—किसी के घर वाले, इसको नहीं मानते। जीवन-साहचर्य में अनिवार्यता क्यों ? स्वेच्छा क्यों नहीं ?

किन्तु पिताजी दुःखित हैं। रोष में हैं। किन्तु वह स्वेच्छा—अमिता को क्या होगया ? वह कैसे मर गई। और इधर उसे अमिता भूत की छाया की तरह घेर रही थी। उसे लगता—अमिता की मृत्यु में कुछ अनहोनी अवश्य रही है।

और दिनेश—उसकी सांवली सुमूर्ति, उसका मादक मोहक अनुराग—राग—उससे अब छूट नहीं सकता। और उसे ध्यान आया—उसने पढ़ा था—"हार्दिक स्वीकृति कभी भी असम्भव नहीं है। कारण, हृदय के बीच में—सब बाधाओं के रहते भी हृदय प्राण ले आता है।" ""और उसने जो हृदय पाया है वह श्रेय है।

और यह जो पिताजी मेरी शादी रचाने चल दिये। मेरे लिये किसी को ढूंढ़ने गये हैं। तो उनकी खोज ही वास्तविक खोज होगी ?

एक आवेग में लता ने दिनेश को एक छोटा-सा पत्र लिखा और यह भी सूचित कर दिया कि उसके पिताजी ने उसकी शादी की व्यवस्था प्रारम्भ कर दी है।

लिखने को तो वह लिख गई किन्तु एक पल को वह यह सोचकर सहम गई—'कहीं वैसा अनर्थ हो गया तो"" ?'

दिनेश पर वह ऐसी चोट थी कि आवेश में वह हतबुद्धि बना रहा। अचानक उसने बड़ी तेजी में अपना सर दीवाल में दे पटका। माथे से रक्त की धार वह निकली और तब उसने दियासलाई की सींक से लिखा—

लता,

मेरे रक्त की बूंदें तुम्हें बधाई भेज रही हैं।

—दिनेश

'रक्त'—लता कांप गई। रामू ने आकर और भी डरा दिया—"कभी खाते हैं, कभी यों ही पड़े रहते हैं। न जाने कितने दिन से बाहर ही नहीं निकले हैं""इत्यादि।"

लता—सारे बन्धन, पिता के सारे निर्देश तोड़कर पैदल ही चल दी। दिनेश के बंगले पर आकर, भयभीत—साहस समेट कर वह उसके कमरे में गई। सामने दिनेश माथे पर पट्टी बांधे बड़े तकिये के सहारे लेटा कुछ पढ़ रहा था। दिनेश की आकृति की दीनता में लता रो उठी। वह आते ही उसके पैरों से लिपट गई। उसका अधीर मन सोचता जा रहा था—एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की चाह में यों सहे, यों विदीर्ण हो।

दिनेश ने तुरन्त अपने पैर समेटे। लता को समेटा। उसे थपथपाया और यों देर तक उसको निहारता रहा जैसे उसमें न जाने क्या—देख रहा था।

उस निस्तब्धता में दो मन—मौन तिलमिला रहे थे। दो शरीर—उनकी तीव्र श्वासोछवास, दहल रही थी। तन सिहर रहा था किन्तु दिनेश ने इस बार अपने को सम्भाला। वह उठ बैठा और हाथ के सहारे से उसने लता को उठाया। यों गलबहियाँ डाले ही डाले वह लता को अन्दर गैलरी में ले गया।

संकेत से वह सामने की ओर देखने के लिये लता को कहकर बोला—"लता, देखो वे फूल मुरझा रहे हैं। किन्तु अभी उनका अस्तित्व मिटा नहीं है। वह पलंग—निःसहाय सहन कर रहा है किन्तु आशान्वित

है। फूलों और अगर की सुवास स्थान को महका रही है—दहका भी रही है किन्तु स्मृतियां इस स्थान को तृप्त कर रही हैं। लता—वह देखो—उस तकिये पर गर्द की हलकी-सी तह जम रही है। किन्तु—लो, मैं उसे झाड़े देता हूं—पुनः उसकी अनुरागमयी शुभ्रता निखर आई, न। तो इस सब वातावरण में ही रहना—जीना है। जिओ, मुझे जिलाओ—मेरी रानी…………"

और लता दिनेश से लिपट गई। आज दिनेश ने प्रत्युत्तर में उसे जकड़ा नहीं अपितु अपनी बाहों को ढीला किये खड़ा रहा और यही लता का विश्वास और गहरा हो रहा—'ये इतने बुरे नहीं। इन्हें कोई सम्भालने वाला मिलना ही चाहिये। ये मेरे पंकज हैं………।'

दिनेश हड़बड़ा कर बोल उठा—"बोलो—बोलो, क्या हो रहा है ? क्या होगा ?………

एक मौन वहां बिखर गया और दिनेश पुनः लता को लेकर कमरे वाले तखत की ओर बढ़ा। इस बार दृढ़ मुद्रा और स्वर में वह तीव्र होकर कह गया—"किन्तु, लता, मैं वह सब होने नहीं दूंगा। वह हो नहीं सकता। मैं होम हो जाऊंगा किन्तु दूसरे को विवश कर दूंगा……शान्तिस्वरूप को………।"

और लता ने अपनी गुदगुदी गदेली को टिका कर दिनेश के ओठ बन्द करते हुये कहा—"तो, मेरे पिताजी से लड़ना चाहते हो………ऐसा न करना………।" कहते-कहते लता ने यों ही अपने पलक मूंदे और अपने सर को दिनेश के वक्ष पर टिका दिया। तदनन्तर वे दोनों बाहर आकर तखत पर बैठ गये।

तभी अनायास कुछ ध्यान करके वह सम्भली और जाने को उद्यत हुई। उठकर खड़े होते-होते उसने दिनेश से कहा—"जा रही हूं। न जाने कैसे आई हूं ? कल मिलने की चेष्टा करूंगी। यों पागल न बनिये। स्वयं सम्भलिये और मुझे सम्भाले रहिये………अन्यथा," और तब एक क्षण वह दिनेश को अपलक निहारती रही और चल दी।

दिनेश कुछ बोला नहीं। बस देर तक उस ओर ही देखता रहा जिधर से लता गई थी। और एक झटके से दिनेश ने अपना सर तकिये पर दे मारा। सर तकिये के पीछे लटक गया और वह अपने माथे को दाहिने हाथ से कसकर थामे रहा—जैसे उसका सब कुछ मिट जावेगा—फट जावेगा।

× × ×

प्राप्य नहीं है यदि, तो क्यों यह
लुप्त न हो जाती हाला
प्राप्य नहीं है तो क्यों यह
लुप्त न हो जाता प्याला,

गुनगुनाते हुये दिनेश प्रभात की रश्मियों को चूमकर उठ बैठा।

मधुरिम अंगड़ाइयों में व्यक्ति सब कुछ—बहुत कुछ करता है। यौवन और ऐश्वर्य—जीवन के नाना उपभोगों में उसे डुबा डालते हैं। किन्तु प्रेम की एक तीव्र रेखा, मन की एक ठेस, बिरह की एक व्यथा, चाह की एक निराशा—उसे वैसे ही मोड़ देती है जैसे चक्र का दूसरा सिरा।

दिनेश के जीवन की गति-विधि सचमुच बदल गई। लता के प्यार के पूर्व तक—वह अन्यत्र भी उपभोगों में डूबा रहा किन्तु लता के बिरह में—उसका मदिरालय सूख गया, उसका रूप-सागर सूख गया, उसकी द्वार-द्वार की चाह सूख गई—उसका प्याला—उसे लग रहा था उसके ओठों पर टिका है किन्तु वह उसे पी नहीं पा रहा है। वह हफ्तों घर के बाहर नहीं निकला। उसने किसी से बात नहीं की। वातावरण की शुष्कता ने उसके रसमय मित्रों को भी उससे दूर कर दिया।

इधर अक्षय भी दिनेश की इस 'बेवकूफी' पर—अपने दूसरे घरों को टटोलता रहा।

अचानक कहीं से लौटने पर शान्तिस्वरूप ने सूचना दी—"लता का रिश्ता पक्का हो गया।"

सूचना चारों ओर फैल गई।

लता ने भी सुना। खाना जैसे उसे खाने को आता हो। दिन, जैसे उसे सुखाने को आता हो। रात, जैसे उसे रुलाने को आती हो। सामने लॉन पर जाते तो जैसे वह कांपती हो। रात में देर तक उनींदी-सी—भरे-भरे पलकों में डूबी वह खिड़की से लान की नीरस हरीतिमा निहारा करती। और तब संगीत की मूक—मधुर-ध्वनियां आआ कर उसे थपकियां—देती........

मधुशाला की वे बीती अमताइयां जैसे प्रतिक्षण उसके कानों में गूंजा करतीं........

और विरह........वह उसे कुछ समझा रहा था—उसका कुछ बना-बिगाड़ रहा था।

———

२०

"ये जो प्रेम, विवाह, वासना, यौन-स्वातन्त्र्य, यौन-दासता, उत्पीड़न और उच्छृङ्खलता—दिन प्रतिदिन मिट-उभर कर समाज में चर्चा और आवेश की लहर-सी उत्पन्न करते रहते हैं—उस सब को देख सुनकर लोग—लगता है—जैसे दांतों तले उंगली दाब कर—हाय ! करके रह जाते हैं। किन्तु कभी कुछ उनसे हो पाता है या रुक पाता है—यह उनका या समाज का दम्भ मात्र ही है। अनाचार, व्यभिचार, काम, वासना, यौन सम्बन्ध—इन शब्दों की परिभाषा हमें और आपको कितना चौंकाती है वह तो प्रसंग आते ही अनुभव होता है परन्तु यह सब भी मानव की ऐसी प्राकृतिक परिभाषायें और गतियां हैं जिनसे अछूता न वह रहता है न उसका समाज। सारे बन्धन, सारी जकड़न, न्याय-संगत सारे नियम, नीति-संगत सारे उपदेश यदि मानव की इन प्रकृतियों को निर्मूल कर सकते तो समाज वहीं पहुंच जाता—जहां अब से पांच हज़ार या दस हज़ार वर्ष पूर्व था। जब⋯⋯"

"ठीक है—ठीक है, दीवान जी, अपनी बकवास बन्द कीजिये। आप तो ऐसे कीड़े हैं जिनकी बिलबिलाहट की प्रसन्नता विष्टा में भी सुख देती है। दुःख है कि न्याय में ऐसी कोई गुंजाइश नहीं जिसमें आपको⋯⋯⋯ "

"हाँ, वकील साहब, नीति में है। नीति ने प्राचीनकाल से कहा है—मातृ-विवाहो हि तद्देशजन्मनः पिंड खर्जूरस्य देशान्तरेषु मातृविवाहा-भावेऽभाववत्—दशरथ जातक के अनुसार सीता राम की बहिन और भार्या दोनों थीं। ब्रह्मा की अपनी पुत्री सरस्वती पर आसक्ति पुराण प्रसिद्ध है। ब्रह्मा के पुत्र दक्ष की कन्या ने अपने दादा (ब्रह्मा) से ब्याह किया था—

"बस, बस, बन्द करो यह बकवास। नीच-निर्लज्ज कहीं के। क्यों आये तुम मेरे यहाँ—निकल जाओ इसी वक्त।"

"मैंने सुना था—कालिन्दी देवी आपसे रूठ कर·······।"

"ऐ, दीवान के बच्चे जाता है यहाँ से या नहीं·······"

"और सुनिये—और सुनिये प्रातः स्मरणीय पंचकन्याओं में द्रोपदी को न भूल जाइये—वकील साहब, मैं चला। मैं जा रहा हूँ। उठिये मत। मुझ पर डंडा उठाने से क्या होगा। लीजिये मैं चला किन्तु जाते-जाते कहे जाता हूँ पराशर का सत्यवती के साथ समागम भी परम प्रसिद्ध है, वकील साहब। पराशर की दिव्य-शक्ति से उत्पन्न कोहरा उस समय लज्जा ढाँप देता है किन्तु उस प्रकृति को कहाँ मिटा सकता·····"

"पुराण का बच्चा—साला। पहले तो सभी पशु थे। उनके यौन-विचार पशुवत थे·······"

"ये आपके सारे पौराणिक अभिनेता पशु थे—तो क्यों रो रहे हो कि बीबी···गई। समझ लो शर्मिष्ठा ने ययाति से रति-दीक्षा मांग ली···गौतम की पत्नी अहिल्या का इन्द्र के साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध है; किन्तु गौतम ने अपनी पत्नी को सदा के लिये त्याज्य नहीं बनाया। बुला लो—बुला लो। आजायगी। तलाक देकर तो गई नहीं है।"

और वकील साहब जब तक उठकर हाथ पैर चलाते दीवानजी सीढ़ियों से उतर गये। वकील साहब के क्रोध ने उन्हें विक्षिप्त बना दिया। वैसे ही पत्नी-वियोग में उन्होंने अन्न-जल त्याग रक्खा था ऊपर से दीवान का वह व्रत के अवसर पर सत्यनारायण की कथा-सा तीखा

प्रसाद''''किन्तु वकील साहब तार्किक क्षमता के आधार पर देर तक बैठे सोचते रहे—दीवान में यही दुर्बुद्धि न होती तो आज उसे पत्नी-माँ-बेटी-बहन का अन्तर तर्क-वितर्क में सूझता। साला—किताबी बातें लिये घूमता है। आज इस बीसवीं सदी में क्या ऐसा कुछ सम्भव है? ''''किन्तु उदाहरण के लिये यह पापिष्ठ स्वयं ही जो समाज में घुसा हुआ है। ऐसे कलुष का निराकरण यदि समाज या न्याय के नियम नहीं कर पाते तो वास्तव में यह थोथी अहमन्यता है कि हमारी नींव संस्कृति-सम्पन्न और—और 'आइडियल्स'—पर टिकी हुई है।

दीवानजी के जाने के तुरन्त बाद ही शान्तिस्वरूप वकील साहब के यहाँ आये। पड़ोसी होने के नाते—प्रसंग ऐसा सुखद तो न था कि कोई यों सहानुभूति प्रदर्शित करने का व्यवहार निभाता—किन्तु वकील साहब व शान्तिस्वरूप का पारस्परिक मैत्री-भाव कुछ ऐसा था कि—शान्तिस्वरूप घटना का विवरण जानने के ध्यान से वहाँ चले गये।

वकील साहब भरे हुये बैठे ही थे ऊपर से उन्हें अपनी उस वेदनामय दशा में शान्तिस्वरूप का आना कुछ सचमुच ही भला नहीं लगा और वे उबल पड़े—"तुम्हीं लोगों ने ऐसे पापियों को मुँह लगा रक्खा है। ऐसे लोगों की तो खाल खिंचवा लेनी चाहिये—बेहया कहीं के'''''''''।"

"बाबू बंशीलाल—किसको गाली दिये चले जा रहे हो'''',' शान्तिस्वरूप ने सिगरेट का कश जोर से खींचते हुये प्रश्न किया।

"तुम्हारे यहाँ भी घुसा रहता है वह दीवान का पिल्ला—कुछ बुरा-भला सोचते हो। सम्पर्क का प्रभाव समझते हो या नहीं, या यों ही लाला बने, मोटर लिये घूमा करते हो।"

बाबू बंशीलाल अवस्था में शान्तिस्वरूप से कुछ बड़े थे अतः मैत्री-भाव के साथ-साथ उनका वार्तालाप लगभग उपदेशात्मक ही रहा करता था।

"तो दीवानजी यहाँ आये थे, क्या?"

"दीवानजी—जो अपनी लड़कियों को पत्नीवत् रख सकता है वही

वेद और पुराणों में रति और काम ढूंढता फिरता है पापी कहीं का। मैं कहता हूँ—ऐसे राक्षस का सम्पर्क जिन लोगों से है—मैं उनके लिये क्या कहूँ ? देखिये, शान्ति बाबू आपकी भी लड़कियाँ-बच्चे हैं—बन्द कर दीजिये आज से उस नीच व्यक्ति का अपने यहाँ आना-जाना।"

शान्तिस्वरूप वकील साहब के आवेश को चुपचाप देखते-सुनते रहे। तभी वंशी बाबू ने आगे कह डाला—"शान्ति बाबू—आपके घर का रंग-ढंग ठीक नहीं है। ज्यादा क्या कहूँ—खुद समझिये।"

'तो लोग—बाहर भी चर्चा करने लगे—छिप कर नहीं यों सामने-सामने'—सोचते हुये शान्तिस्वरूप तड़प कर रह गये और अति शीघ्र बिना कुछ कहे-सुने चुपचाप उठकर वे चले आये।

× × ×

शान्तिस्वरूप ने लता के बन्धन कड़े कर दिये। अब वे अधिक समय स्वयं घर पर व्यतीत करने लगे। उस सम्बन्ध में स्वरूपरानी की ओर से भी वे अविश्वासी हो गये थे। वे सोचते थे—स्त्रियाँ ऐसे में कुटेवों को छिपा लेती हैं जो दूसरे रूप में अनाधिकारों को प्रश्रय देता है।

किन्तु—अत्यधिक दबन या तो व्यवित को पीस डालती है या फिर उससे विरोध और विद्रोह उभरता है। ऐसे में दिनेश भी क्यों दबता ? उसका विद्रोह जगा। उसने पत्र-व्यवहार के द्वारा लता से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखा। लता से मिलने के उसके अनेक कार्यक्रम अवश्य निरर्थक होते रहे। अब उसकी एक ही धुन थी—लता से शादी। प्रणय को परिणय में बदलने की उत्कट अभिलाषा और उसकी गूंज—प्रचार के रूप में उसने सर्वत्र प्रारम्भ की। जो भी मिलता—वह उससे अपना मन्तव्य प्रकट करता।

वह दिन में कई-कई बार—घर से निकल कर इधर-उधर घूमता और लता के बंगले की बाउन्डरी के चक्कर काटता। दूर से—बरामदे में या इधर-उधर निकलते बैठते कभी वह लता को देख पाता और उस

अतृप्ति में—मिलन की उस हूक में—सन्तोष की दो सांस लेकर वह लौट पड़ता।

शान्तिस्वरूप ने ऐसी व्यवस्था की थी कि भविष्य में लता—दिनेश से न मिल सके। विरह में लता का मन झुलसता रहा। ऊपर से उसका शरीर सूखता रहा। उसका गौरवर्ण लालिमा की छिटकी बूंदों को त्याग कर पीला पड़ता चला जा रहा था। किन्तु उसने यह संकल्प किया कि अपनी ओर से ऐसा अवसर वह किसी को न देगी—पिता जी को भी न देगी—जिसमें यह हो कि इतनी रोक-थाम में भी जब लता नहीं मानती तो कुछ और उपाय करने चाहिये........इत्यादि।

किन्तु पत्र भेजने की उसने नई युक्ति निकाली। लता ने बंगले की बाउंडरी में—पेड़ों के झुरमुट के पीछे एक कील गाड़ी। उस पर एक झोला टांगा। झोले ने महीनों पोस्ट-बॉक्स का काम किया। लता वहां तक चुपचाप जाती अपना पत्र डाल आती—उसमें पड़ा दिनेश का पत्र निकाल लाती।

एक दिन दिनेश को उसने बरामदे में खड़े-खड़े संकेत से उस स्थान की ओर बुलाया। दिनेश—उस समय फाटक के बाहर सड़क पर खड़ा—किसी प्रकार लता की झलक देखने का विश्वास लेकर झांक रहा था और कोई परिचित न दिख जावे इसके लिये सतर्क भाव से अनेक बार चारों ओर दृष्टि दौड़ा लेता था। एक दो बार ऐसा हुआ भी कि जिस दिशा से उसका कोई व्यक्ति आता हुआ दिखाई दिया उससे विपरीत दिशा की ओर वह १०-२० पग चला गया और पुनः लौट कर सड़क पर ऐसे स्थान पर आ खड़ा हुआ जहां से बंगले का बरामदा और लता की अपने कमरे का आने-जाने का मार्ग स्पष्ट दीखता था। और एक-डेढ़ घंटे की इस तपस्या के उपरान्त लता दिखी। वह अपने कमरे से निकल रही थी। लता के नेत्र टिके के टिके रह गये। उसके हाथ अनायास उठे—अभिवादन की मूक—अर्चना में उसने

अपने मनभावन का स्वागत किया। दिनेश ने भी प्रत्युत्तर में नमस्कार किया। तभी लता के संकेत पर वह उस स्थान पर भी चला आया। वहीं लता ने अपलक नेत्रों से दिनेश को निहारा—एक दो मिनट में—प्यार भरी—मनुहार भरी—दो चार बातें कहीं—कुछ सुनीं और उसने बताया कि इसी स्थान पर वह पत्र रख दिया करे।

दिनेश—बहुत कुछ कहना सुनना चाहता था किन्तु—लता रुक न सकी। व्यर्थ घर में दो-चार दिन तक एक ही बात का विवाद चले—पिताजी को क्षोभ हो—यह, वह नहीं चाहती थी।

"घबड़ाओ नहीं—मिलूंगी—अवश्य मिलूंगी……" कहकर लता शीघ्रता में चली गई। मन से वह कितना चाह रही थी कि वह………वह यों ही घंटों दिनेश को निहारा करती—बातें किया करती—किन्तु विवशता।

और इसी विवशता का अंकुश न हो तो मन कहां ले जाकर—किसको पटक दे—पटक देता है—बहुत से जानते हैं।

अतः अब पत्र व्यवहार का तारतम्य पूर्ण गति पर प्रारम्भ हो गया। दिनेश नित्य अर्धरात्रि में आता। लता बरामदे में खड़ी होती। दिनेश को हाथ जोड़ती। दिनेश—लता के रूप को पीता—दर्शन की शान्ति चखता………झोले में पत्र डालता—निकालता और मूक—याचक-सा लौट जाता।

उसे—उन बंगलों के निकट—खुले मैदानों की-सी चीखती सर्दी—मिलती। साहस एक बार कांपता किन्तु ऐसे में अनुराग की मादक हाला पीकर प्रत्येक पहाड़ छूने जो दौड़ पड़ता है।

एक दिन जाड़ों की कटकटाती रात थी। सभी रजाइयों में दुबके पड़े थे। दिनेश प्रतिदिन की भांति उस भयंकर शीत में ही आया।

लता भी सबसे बचकर—अर्धरात्रि तक के जागरण में उनींदी पलकें उभार कर—शाल में दबी-ढकी बरामदे में खड़ी—दृष्टियों को दाबकर—अपनी दृष्टि एक ओर केन्द्रित किये रहती। दिनेश आता—

वह उसका अभिवादन करती। झोले के निकट तक आती। विरह-प्रेम की रसमय पानी निकालती और चेष्टा करके—कम से कम समय में—दो-चार स्फुट वार्ता करके लौट आती। कमरे में आकर पत्र पढ़ती। कभी मुग्ध हो जाती—कभी विरह—भावनाओं में डूब कर आंसुओं से तकिया भिगो डालती।

और उस दिन—प्रतिदिन के कार्यक्रमानुसार—दिनेश के आने पर—लता झांकी। बढ़ाव में बन्धन और व्याघात भी उपस्थित होते ही हैं। लता बंगले के अंदर खड़ी थी और दिनेश बाउण्डरी के बाहर खड़ा प्यारभरी बातें कर रहा था। 'लता—यह सब कुछ इस प्रकार नहीं चल सकता। हमें इन जंजीरों को तोड़-मरोड़कर बाहर आना ही होगा····।'

"बोलो, यह सब कैसे सम्भव होगा···· ?"

वार्तालाप रुका रहा। वे दोनों मौन खड़े सिसकियां भरते रहे। वे उस वेदना को आंसुओं में घोल रहे थे जिसको कई सप्ताह की दूरी ने पत्थर-सा बना दिया था किन्तु आंसुओं का श्रोत तो पत्थर तोड़कर भी बाहर फूटता ही है। यों, चतुर्दिक के उस सांय-सांय करते निस्तब्ध वातावरण में—दिनेश व लता कई मिनट तक मौन खड़े रहे—तभी अनायास एक चीखती आवाज़ ने दिनेश व लता के कान फोड़ दिये—"लता········।"

पेड़ों से टकरा कर आवाज़ ने दिनेश व लता का हृदय चूर-चूर कर दिया। "पिताजी····" तुरन्त लता के मुंह से निकला और उस कल्पना मात्र से लता कांप गई।

"जाइये····," कहकर लता लौट आई।

कांपती हिरणी-सी—लता चुपचाप आई और पिताजी के सामने से होकर कमरे में चली गई।

शान्तिस्वरूप—स्वतः मन के विषाद में डूबे खड़े रहे। अपने स्वभाव की गुरुता में—उन्होंने लता से कुछ कहा नहीं।

उस क्षण—निराशा के ऐसे अन्धकार में लता समा गई कि अपने को मिटा डालने की भावना से अपने को कोसते-कोसते—थक कर वह सो गई।

× × ×

प्रातःकाल जब लता उठी तो बंगले में चहल-पहल विशेष थी।

शान्तिस्वरूप की बहन दिव्या सुबह की गाड़ी से आ गई थीं। इधर दिव्या बहुत दिन बाद देहली आई थीं। विवाह के पश्चात् उनका आगमन इसी प्रकार कई-कई वर्ष बाद हुआ करता था। वे इतनी दूर चली गई थीं कि उनके घर में बस उनकी याद ही बनी रहती थी। विवाह-त्योहार व अन्य आवश्यक अवसरों पर घर वाले चाहकर भी उन्हें न बुला पाते थे। वे एक प्रकार से धरती के दूसरे छोर पर थीं। आसाम की तलहटियों में उनके पति की जमींदारी थी। वहाँ से आना-जाना देर में ही होता था।

इधर बहुत समय से स्वरूपरानी दिव्या को बुलाने का निमन्त्रण दे रही थीं। वर्षों बाद आज वे आ पाई थीं। शान्तिस्वरूप से छोटी होते हुये भी उनका मान-सम्मान विशेष था।

दिव्या लता को अत्यधिक स्नेह करती थीं। लता ही एक ऐसा आकर्षण था जो उन्हें उतनी दूर से भी पत्रों द्वारा खींचे रहता था। स्टेशन से आकर दिव्या सबसे पहले लता के कमरे में गईं। वह सो रही थी। लौटकर उन्होंने स्वरूपरानी से कहा—"भाभी, लता को क्या हो गया ? लग रहा है यह तो पीली पड़ गई है। कुछ बीमार तो नहीं है ?"

स्वरूपरानी ने 'मौन' वह सब सुना। सुबह के नाश्ते के लिये 'टोस्ट' अंगीठी पर सेकते-सेकते एक बार उन्होंने भरमाई दृष्टि से दिव्या की ओर देखा और उसी उदासीनता में दिव्या के उस प्रश्न से—लगा जैसे उनके अन्दर एक टीस-सी उभर आई—और वे पुनः कार्य में लग गईं।

तभी दिव्या ने दोहराया—"तुम बोलती नहीं। क्या बात है ?"

"क्या बताऊँ ? वह खुद जानती होगी या तुम्हारे भइया जानें", स्वरूपरानी ने शुष्क मुद्रा में उत्तर दिया।

अनुमान से दिव्या ने समझा—'अवश्य कोई बात है जिसको कहते हुए भाभी को कष्ट हो रहा है या रुक रही हैं। तो क्या कारण हो सकता है ? लता की उम्र तो वहाँ तक पहुँच गई है, जहाँ लड़कियों में नये कारण सम्भव हो सकते हैं—यही कि किसी को प्यार करने की बात""किसी से साहचर्य प्राप्त करने की सजगता""यों कि अनुभव उनके भी बड़े तीखे थे""तो कुछ है। और दिव्या की उत्सुकता बढ़ती गई। सुबह से रात तक जब लता के द्वारा उसके विषाद की कहानी उन्होंने सुन ली तो उनकी सहज सहानुभूति जाग उठी। वे स्वयं छटपटा उठीं।

सब कुछ जान लेने के अनन्तर की सहज समवेदना में दिव्या स्वयं बहुत कुछ सोचती रही। क्या होना चाहिये ? लड़की को कितनी पीड़ा है ? घर भर में एक उदासी छाई है। भइया-भाभी भी, किसी उलझन में डूबे से—घिरे-घिरे से दिखाई देते हैं। भाई को चिन्तातुर देखकर तो उन्हें—दिव्या को—और भी कष्ट हुआ।

सबसे पहले तो उन्होंने लता को ही एक डांट पिलाई—"इस प्रकार की चंचलता भली लड़कियों के लिये अच्छी नहीं। इस अदृश्य लालसा ने—उसको—लता को—किस स्थिति में पहुँचा दिया—वह सोचे तो।" तब आगे की बुराइयां—भलाइयां ; ऊंच-नीच ; कर्तव्य-अकर्तव्य—बहुत कुछ दिव्या ने लता को बताये। और—"लता सुनो—संभलो। अब इन सब से काम नहीं चलेगा। अब शादी तय हो चुकी है। परिस्थिति के अनुसार चलो। अपने को व्यवस्थित करो। भविष्य दुःखमय न बन जावे—उसके लिये हृदय से नहीं—मस्तिष्क से काम लो। यह प्रेम—प्रेम का कीड़ा कहीं कुछ है नहीं। शुरू में कहीं कुछ होता भी है तो

बाद में सब खत्म हो जाता है। खास तौर पर जब शादी हो गई और दो चार बच्चे.........तो उस सबमें रखा क्या है ?"

किन्तु लता का प्रणय जिस स्थिति तक पहुंच चुका था वहां उपदेश—उपदेश मात्र ही था। वह जहां तक चल आई थी वहां से लौटना, उसके लिये अब सरल न था। उसने शीघ्रता की है, भला किया है या बुरा, पात्र की सुपात्रता अथवा कुपात्रता ; उसकी अनुरागी-दृष्टि ने दोष देखकर भी नहीं देखे ; आगे उस सबका प्रतिफल कुछ विशेष रुचिकर नहीं अपेक्षाकृत महान दुःखकारी है ; उसकी चरम सीमा अपनी अन्त्येष्टि है.........किन्तु उस सबसे क्या ? वे सारे कारण—दोषानुशीलन निरर्थक हैं। सदैव वही होता है—सब ऐसे में ऐसा ही सोचते—करते हैं—उसने नया क्या किया—माना है ? ठीक—उसके एक पत्नी है—तो हुआ करे। ऐसे में—क्या नहीं निभ सकती ? बस, मुझे मेरा प्रिय प्राप्त रहे—मुझे दुनिया से क्या लेना देना ? और समर्पण के इस संकल्प ने लता को विमुख होने के स्थान पर उत्तरोत्तर गहन बना दिया।

"मैं क्यों करूं ? मैं सब सोचती हूं किन्तु मेरे वश का अब कुछ नहीं है। मैं कैसे कहूं कि उसमें कैसा जादू है जिसने मुझे इतना परवश बना डाला। और और—दोष की बात कहती हो—बुआ। दोष कहां नहीं। किसमें नहीं। पुरुष बड़े दोषी हैं। और स्त्रियां—एक एक का पूरक है। सम्मिश्रण में ही गुण-दोष प्रकट होते हैं। अकेला कोई क्या कर पाता है ?" लता ने दिव्या से अपने मन की बात प्रकट की।

"किन्तु.........।"

"किन्तु कुछ नहीं, बस मुझे कभी-कभी एक ही टीस खटकाती है, जिससे मैं दहल जाती हूं। मुझसे—एक दूसरी स्त्री के प्रति अन्याय हो रहा है—हुआ है। बस—और कुछ नहीं। उस निःसहाय का क्या होगा ? बोलिये," कहते-कहते लता सोफे पर अचेत हो गई। दिव्या उसे वहीं छोड़ कर गई और गिलास में जल ले आई। लता को

हिलाया। दो चार छपाके जल के मुंह पर फेंके—तब लता ने—सहमी-सी, आंखें खोल दीं।

दिव्या निकट ही बैठ गई। देर तक कमरे में नीरवता छाई रही। बच्चे सब पढ़ने गये थे। स्वरूपरानी भी कहीं गई हुई थी। उस सन्नाटे की दोपहरी में—लता की बेचैनी, उसकी सुकुमारता, उसकी वह भयंकर तिलमिलाहट, उस उदार की वह असावधानी, अनुराग की वह विरल—विरह—स्थिति—दिव्या से न देखी गई। वे सहज—मोह-वश सोच गईं—लता को किसी भी प्रकार सन्तोष मिले। जो भी हो—हो।

पारिवारिक—पूर्व-परिचय के आधार पर दिव्या ने प्रयत्न करके दिनेश से भी भेंट की।

"स्थिति व भविष्य बड़े अन्धेरे में है········," दिव्या ने दिनेश से कहा।

किन्तु लता से कहीं गहरा रंग—दिनेश पर दिखाई दिया। दिव्या को कुछ ऐसा लगा—दिनेश बड़ा भला लड़का है, बड़ा भोला, मीठा, बड़ा निर्दोष, दुर्गुणों और व्यसनों की बातें सब बढ़-चढ़कर औरों द्वारा उड़ाई गई बातें हैं, वे दोष कोई दोष नहीं, और वह उनसे दूर भी तो हो चुका है, अब वह प्रेम में लीन है, विरह में उत्सर्ग की ढाल रखी है, उसने। और इस सब निर्णय ने दिव्या के नारी-स्वभाव को दृढ़ होने के स्थान पर सहज द्रवित कर दिया। वे लक्ष्य से विमुख हो गईं। निराकरण के स्थान पर सहयोग कर बैठीं। उन्होंने सोचा था—"दिनेश से मिलकर—उन्हें कुछ ऐसा उपदेश देना है, कुछ विशेष परिस्थितियों से अवगत कराकर उसे मार्ग छोड़ देने के लिये समझाना है—इत्यादि।" किन्तु हुआ उसके विपरीत। उस प्रणयी की विरहावस्था का अभिनय कुछ ऐसा द्रावक था कि दिव्या क्या, कोई भी—सहानुभूति में····ओफ। के स्वर के साथ गहरी उच्छ्वास छोड़ देता।

'इन युगल—स्नेहियों को सन्तोष मिले। विशेषतः उनकी लाड़ली

लता को चैन मिले, इसके लिये वे सरलता अपना बैठीं। स्वभावतः लता व दिनेश ने उसका अर्थ दिव्या का अपने प्रति सहयोग—माना।

लता के लिये—दिव्या ने प्रयत्न करके दिनेश से कई भेंट कीं। परिस्थिति को सरल बनाने का प्रयत्न किया। जब भी दिनेश से दिव्या मिलती वह अनुनय—मनुहार से उनको द्रवित करता। रो पड़ता। हाथ पैर पटकता। सर दे मारता और बरस पड़ता—चीख कर कह उठता—"बस, एक बार मिला दीजिये। मैं आपके पैर छूता हूं। एक बार दर्शन करा दीजिये। बस हमारी शादी करा दीजिये। वर्ना—वर्ना हम दोनों जीवित नहीं रह सकते.........।"

अस्तु, आसाम से देहली आकर उन्होंने विचित्र ही रंग-मंच देखा था। मौन होकर वे सब सुनती थी। वे चाह कर भी दिनेश से यह न कह पातीं—" किन्तु, अब इस सबसे क्या होगा ? उसकी शादी अन्यत्र निश्चित हो चुकी है। अब यह भूत दोनों का ही—उतरना चाहिये।" उसके स्थान पर वे स्वयं शून्य में दृष्टि टिका कर सोचने लगतीं—"परिस्थिति कैसे संभले ? कम से कम वे नहीं संभाल सकतीं।"

इस प्रसंग को लेकर प्रारम्भ में उन्होंने शान्तिस्वरूप से ही कुछ कहने की तत्परता में वे अपने को व्यस्त किये रहीं। स्थिति सफलता प्राप्ति के स्थान पर गुरु-गम्भीर होती गई।

हुआ यह कि—इस असमंजस में वे लता व दिनेश दोनों की विश्वासपात्र, समदर्शी, सहानुभूति-मय दीख पड़ी। वे दोनों का कलपना नहीं देख सकती थीं। दिनेश को भी बढ़ावा मिलना ही था। इधर महीनों का अवरोध—सब ओर से सिमट कर केवल लता पर केन्द्रित होकर जीवन के नये अनुभव में विरह की वह तीखी परिभाषा—जिसमें वह तड़प उठा था—मिलन—सुख की कल्पना अठखेलियों की पुकार—उस सब ने मिलाकर उसे उत्साहित किया कि दिव्या की छत्र-छाया में कम से कम—दर्शन—अर्चन के लिये ही सही—वह लता से मिल सकता है।

और तभी एक दिन—अनेक प्रतिबन्धों की कठोरता के विपरीत-रात्रि के गहन अन्धकार में—दिनेश बंगले की ऊँची बाउन्डरी को फांद, किसी प्रकार लता के निकट आ पहुँचा।

दिव्या व लता एक ही पलंग पर नींद की गहराई को पी रही थीं। दिव्या हड़बड़ाई और देख कर कांप गईं। लता ने भी अपने पावन-प्रिय को निहारा—सहम कर मुस्कराई किन्तु उस परिस्थिति में वह दिव्या को, अपने को व दिनेश को देखकर घबड़ा गई। मिलन की उस अनाधिकार-पूर्ण स्थिति में लता ने पलक मूंदकर जी भर देवदर्शन किये किन्तु अब 'ये' यहां से तुरन्त लौट जायें—इस चाहना में वह निर्निमेष दृष्टि से दिनेश को देखती रही।

(लता के प्रति शान्तिस्वरूप की सजगता—दिव्या से छिपी न थी। कहीं कुछ अघटित न घट जाये—इस संभाल में दिव्या—लता व दिनेश को वहीं छोड़कर—कमरे के बाहर यह देखने चली आई कि चारों ओर —ताला, कुंडी, लालटेन—चौकस है।)

उस क्षणिक अवकाश में—दिनेश के अनुरोध पर लता पलंग से उठी—दिनेश ने लता को प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध किया और दिव्या के लौटने तक लता सतर्क भाव से पुनः पलंग पर लौट पड़ी। हाथ-पैर हिले-डुले—यह दिव्या ने आते-आते मन की मुस्कराहट में झांका और किंचित तीखे होकर वे कहने लगीं—"यह सब अनुचित है। भयानक है। जाओ, दिनेश, अब चले जाओ यहां से। अब कभी ऐसा न करना''' कल सुबह बात करना, जाओ यहाँ से। मैं सुबह आऊंगी।"

इस सबका प्रभाव उन दोनों पर कितना पड़ा—दिव्या जानती थी। अन्तर्मन में दिव्या उनके प्रति पूर्णतः सहानुभूतिपूर्ण है—यह लता व दिनेश भी जानते थे। इस पर भी दिव्या का आदेश मानना ही चाहिये। वे रुष्ट न हों—यह सोचकर दिनेश—दो-चार मिनट वहाँ रुका, तदनन्तर लौट गया।

× × × ×

शान्तिस्वरूप को अनेक ओर से सूचनायें मिलती रहीं कि लता व दिनेश—किसी भी प्रकार—निरन्तर मिलते हैं। उनके पत्र आज भी दौड़ लगाते हैं। उनके मन आज भी गहराइयां पकड़ रहे हैं। उनके तन अंगड़ाइयां लेने को, बरबस समय की प्रतीक्षा में, अवसर की खोज में, इस पल भी आतुर हैं ; कुछ भी असम्भव नहीं, कुछ भी अब सम्भव नहीं—और तब वे तिलमिला उठे।

पिता का मान और समाज की प्रतिष्ठा—वह एक लीक है जो पारिवारिक व्यवस्था सहित—समाज को कसे है। किन्तु ऐसे में स्थिति ऐसी बन पड़ती है कि न समझाना काम देता है न अंकुश। अन्त में अविभाविक की गरिमा में अंकुश का ही सहारा बन पड़ता है और तभी शान्तिस्वरूप और दृढ़ हो गये। इस सबको विच्छिन्न करना ही होगा। पुत्री के प्रति जागरूक रह कर भी, स्वभावत: लता से शान्तिस्वरूप सामने-सामने कभी कुछ न कह पाते किन्तु यों रोक-थाम के प्रयोग उन्होंने कठोर कर डाले। उपाय जितने व्यर्थ सिद्ध हो रहे थे—उतना ही शान्तिस्वरूप संभलते जा रहे थे। प्रारम्भ की असाव-धानी में जिस सम्पर्क ने गहरी जड़ें पकड़ ली थीं—वे प्रयत्न करके भी अब बाहर होने का नाम न ले रही थीं। इसके विपरीत—अब वे—वृक्ष, पुष्प व फल के रूप में बाहर थी। उनमें अब नित-नूतन कल्ले फूट रहे थे। नये फलों के आगमन की ही नई सूचनायें प्राप्त होना वहां सम्भव था।

किन्तु इस सबके होते हुये भी—शान्तिस्वरूप सतर्क भाव से स्थिति संभाल रहे थे। पिता व पुत्री के मध्य वैसे से शान्त-युद्ध में कोई भी झुकने को तत्पर न था।

इस प्रकार की परिस्थितियों में वातावरण व निकट के व्यक्तियों में जितना उत्साह, जितनी चिन्ता, उपाय व्यक्त करने की जितनी जागरूकता, इधर-उधर भिड़ाने की जितनी प्रक्रियायें प्रकट होती हैं—उतनी कभी-कभी सम्बन्धित व्यक्तियों में भी नहीं पायी जातीं। शान्ति-

स्वरूप के परिचित, दिनेश के मित्र, दोनों के मिले-जुले दोस्त, स्वरूपरानी की निकटतम स्त्रियां, उसी प्रकार के अन्य—उस प्रणय-प्रसंग को सरसता में टीका-टिप्पणी, सहयोग, निराकरण अथवा नवीन युक्तियों के दिग्दर्शन में अत्यधिक क्रियाशील थे।

वातावरण में एक तूफान-सा उठा हुआ था।

इधर-उधर से लोग आते और घुमा-फिरा कर कुछ जानी और कुछ मनगढ़न्त बातें बना कर शान्तिस्वरूप को उद्विग्न करते। उस सब से शान्तिस्वरूप लज्जालु से, शून्य में विलीन हो जाते—चुप सब सुन लेते, जान लेते।

बन्धनों की उस जकड़न में कभी सुनाई पड़ता—आज दिनेश अमुक स्थान पर देखा गया है। कोई कह जाता—"शान्तिस्वरूप, दिनेश ने बड़ी गन्दी योजनायें बनाई हैं। पैसा खर्च कर रहा है। जल्दी शादी निबटा डालो। इस लड़की को क्या हो गया है? भई, तुम तो स्वयं समझदार हो।"

उसी प्रकार की उड़ान-भरी बातें दिनेश तक आयीं। "शादी की तैयारियां शुरू हो गई हैं। घर भर बाहर जा रहा है। किसी भी दिन ठोके जाने वाले हो। तुम्हें मार डालने के लिये पांच हजार रुपये कल ही एक आदमी को दिये गये हैं।" सुनते हो—"लता का मन भी बदल गया है, तुम्हारी ओर से।" वह कहती है—"तुम क्या हो? यह उसे पहले पता ही न था।"

तब सब बातों का उत्तर—दिनेश दीनता भरे शब्दों में देता—"लता कभी ऐसा नहीं कर सकती। मुझे उन तमाम बातों का कोई डर नहीं।"

उन तमाम बातों में कितनी कहां सत्यता है किसी को पता नहीं। किन्तु हां, हफ्तों-दिनेश, योगियों, मुल्लाओं, ज्योतिषियों और जन्त्र-मन्त्र-धारियों के चारों ओर घूमता रहा। उनकी सेवा करता रहा। चरण-रज माथे से लगाता रहा और सामर्थ्य भर रुपया व्यय करता रहा।

उनमें से कोई कहता—"कल लड़की का बाप तुम्हारे पास खुद दौड़ा चला आवेगा।" दिनेश सोचता—'ठीक।'

कोई कहता—"मेरा कार्य चल रहा है। जाओ, पूछ आओ, कल शाम को पौने छः बजे लड़की की मां ने कहा है—शादी तुम्हारे साथ ही होगी।" दिनेश सोचता—'ठीक।'

तीसरा कहता—"लड़की के बाप का मन जादू की लकड़ी की तरह घूम जावे तब २५१) रु०, २५१ चादरें, २५१ थाल, २५१ नारियल, २५१ मालाएँ और एक लड़की की तस्वीर—जमुना माई पर चढ़ाना। मेरे पास चले आना, मैं सब ठीक करा दूंगा।" दिनेश सोचता—'बिलकुल ठीक।'

एक, काले कपड़े लपेटे, सैंकड़ों मालायें पहने—पुराना मुल्ला बोला—"ले यह टोना—यह जन्त्र है, तीन दिन में, तीन महीने में या तीन बरस में लड़की का बाप दुनिया से कूच कर जावेगा।" दिनेश सहम कर भी सोचता—'यह ठीक क्यों नहीं?'

कहीं हुआ—"आज शाम तक लड़की खुद आकर कहेगी—'चलिये, मुझे यहां से दूर ले चलिये।' तब दक्षिण दिशा की ओर जाना।"

दिनेश के लिये सब ठीक था। सब काम चलने प्रारम्भ हो गये।

जो सुनते उपहास भी करते—कुछेक उसका ही तूफान बांधकर वातावरण में अशान्ति उत्पन्न करते। कार्य-पूर्ति के लिये जितना अन्ध-विश्वास-दिनेश में सजग था उससे कहीं अधिक उस सबकी प्रतिक्रिया—सूचनायें पा पाकर—शान्तिस्वरूप के घर में भी उथल-पुथल मचा रहा था।

और लता—शान्त-भाव से सब देख सुनकर तड़पती और सिहर कर पलंग में सिर दे मारती।

२१

अमिता का ध्यान दिनेश को जब भी आ जाता—उस क्षण एक भयानक आक्रोश उसको आ घेरता। अमिता की मृत्यु का कारण—अमिता जानती थी, दिनेश जानता था या 'नर्सिंग होम' की लेडी-डाक्टर जानती थी—जिसके पास आकर अमिता ने स्पष्ट रूप से कहा था—"आ'म बेरिंग एन इलिजिमेट चाइल्ड, प्लीज़ हेल्प मी टु गेट इट क्लियर्ड....।"

और दिनेश को अमिता ने—सब मिला कर केवल एक पत्र भेजा। उसने उसे लिखा—"मेरी रक्षा करो। तुम्हारा अंश बीज रूप में पनप रहा है। शीघ्रता करना। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में हूं।"

किन्तु दिनेश क्या—ऐसे में सभी जो दुष्यन्त के वंशज होने का गौरव प्रदर्शित करके अपने को धन्य मानते हैं।

और अमिता के 'नर्सिंग-होम' पहुंचने के पांचवें दिन दिनेश को तार मिला था—"प्रेकेरियस कन्डीशन। अमिता विशेज टु सी यू।"

डाक्टर ने अपना काम किया किन्तु दिनेश ने मौन-ग्लानि से अपना कर्तव्य पूरा किया। वह क्यों फंसता? उसने किया ही क्या? उसकी जिम्मेदारी ही क्या? वह ऐसा जानता ही कब था? कोई जानता ही कब है?

और तब उस दिन लता ने ही दिनेश को सूचना दी—"अमिता मर गई।"

और अमिता का भूत—छाया की भांति दिनेश के चतुर्दिक चक्कर काटने लगा। एकान्त में दांत भींच कर और आंखें फाड़कर जब अमिता की भुतही छाया उसे कंरोचती तो वह चीख उठता। घर वालों व मित्रों में बात फैली कि लता के वियोग में दिनेश विक्षिप्त होता चला जा रहा है।

तब अन्त में लता ने जाना—बम्बई सहवास में अमिता ने जो कुछ पाया था—उसके प्रसादस्वरूप उसे मृत्यु-सुख मिला। और दीवार पर माथा टेक कर लता बिलख कर रह गई—अमिता। किन्तु उस क्षण वह सन्तुष्ट भी थी—भगवान् ने कम से कम उसकी रक्षा की। ओफ!

किन्तु उस तोष में दिनेश के प्रति—जो घृणा का भाव उभरा तो लता सोच गई—जो होना था हुआ। अब उसे अपना मार्ग स्थिर करना ही होगा।

और लता ने पत्र मोड़कर रख लिया। अमिता की अन्तिम अभिलाषा—"दिनेश को यह न जताना कि तुम वह सब कुछ जानती हो।"

× × ×

घर वालों और अनेक मित्रों के कठिन परिश्रम तथा अधिक व्यय के बाद दिनेश की जान बम्बई के मुकदमे से छूट पाई। मरते समय के दि''''ने''''श ने जिस प्रकार मिस नलिनी''''और देहली से बम्बई तक की यात्रा में ओठों की फड़फड़ाहट में सु-शी-ल, सु-शी-ल रूपिणी एक ही मिठास को चखा था वह स्मृतिरूप में थी, चावड़ी की जेबुन्निसा की लड़की बानू। जिसने मुकदमे के रूप में दिनेश की रंगीनियों को एक ऐसा झोंका दिया कि वह पिस कर रह गया।

बानू ने कई नामों से देहली के इठलाते युवकों में घुंघरू का मदमाता स्वर और कंचन-काया का रस बिखेरा था। यही बानू वीरेन्द्र के लिये नलिनी थी और दिनेश के लिये सु-शी-ल!

'विक्टोरिया-टर्मिनस' तक जिस सुशीला की स्मृति में दिनेश डूबा

रहा 'होटेल ग्रीन' में उसको पाकर वह उभर उठा और तब हुआ यह कि उस सब-इंस्पेक्टर ने वीरेन्द्र से पैसा दुहा और मुकदमे का रंग कुछ ऐसा बनाया कि दिनेश कटघरे तक जाते-जाते बच ही तो गया।

और इधर सचमुच दिनेश ने सन्यास ले लिया था। लता का घुलता-मिलता विरह और मुकदमे की हड़बड़ाहट में इधर वह उपभोग की लालसा खो बैठा।

बम्बई प्रवास में उसे लता की कोई भी सूचना प्राप्त न हो सकी। और तब एक दिन दौड़-धूप, व्यय और परिचय के बल पर दिनेश पुनः देहली लौट आया।

सेकेण्ड क्लास के उस कंपार्टमेंट में—मिस मौलिनी का इठलाता थप्पड़; लता—अमिता—स्वरूपरानी के साथ की यात्रा के अनन्तर रूप और अनुराग की खेलती दोपहरी में बरबस आई विरह के बादलों की सुरमई छाया के चित्रों ने दिनेश को मसोस कर रख दिया।

एक दिशा से दिनेश देहली स्टेशन पर उतरा और दूसरी ओर से शान्तिस्वरूप आये। दोनों ही एक दूसरे को कतरा कर प्लेटफार्म के बाहर हो गये। शान्तिस्वरूप के साथ मित्रों का एक अच्छा समूह था। दिनेश को लगा वह सब उन्हीं के साथ बाहर से लौटा है।

शान्तिस्वरूप ने स्वरूपरानी को घर आकर सूचना दी कि सगाई की पहली रस्म बड़े समारोह के साथ पूरी करके वे सबके साथ लौटे हैं।

उसी प्रकार घर आने पर—दिनेश को यह सूचना सबसे पहले उसकी पत्नी ने दी कि 'उनकी' लता का विवाह आज से ५३ दिन बाद होने जा रहा है।

एक तीखी दृष्टि दिनेश ने पत्नी पर फेंकी और धरती में समाया-सा—धम्म से वह तखत पर लोट रहा। जैसे दुनियां सूनी हो गई हो, जैसे सब कुछ मिट गया हो, जैसे सब कुछ छिन गया हो, जैसे वह

होकर ही रहा जो होना उसने कभी सोचा ही न था, और निराशा की एक गहरी काली-काली रेखा आंखों में नाच गई—कुछ भद्दे से—भूरे भूरे—नीले—काले से रेखा-चित्र देर तक नेत्रों और मस्तिष्क के चारों ओर घूमते रहे—कुछ चित्र यथार्थ भी थे—जैसे अमिता की तड़पती तस्वीर—वानू की लड़खड़ाती मौत और लता की मिटती-सी छाया।

वह विध्वंस कर देगा; वह विद्रोह करेगा; वह सब कुछ—यह होने न देगा; वह पीस डालेगा; वह मिटा डालेगा; स्वयं मिट जायेगा; वह········अभी········अभी········और वह उठा।

तत्क्षण सामने से अक्षय ने प्रवेश किया और दिनेश के बम्बई से लौटने के स्वागत में उससे पहला वाक्य कहा—"बरेली में एक बड़े घर में शादी तय········"

"चुप रहो········"

और दिनेश वैसे ही—अचेत-सा, गाव तकिये के सहारे लेटा रहा।

न अक्षय ही कुछ बोला न दिनेश।

× × × ×

देखते-देखते, सोचते-सोचते—ही 'लुट गई दुनिया मेरी'—और लता पलक मूंदे, निःशब्द सब कुछ देखती सुनती रही। अमिता के नाश के अनन्तर उसे बम्बई के मुकदमे का हाल भी ज्ञात हुआ। दो आघात पीकर मस्तिष्क बौखलाया-सा, इधर-उधर टटोल रहा था कि घर में चहल-पहल प्रारम्भ हो गई—सगाई, ब्याह।

"लता········"

'जी पिता जी········,' आज महीनों बाद शान्तिस्वरूप ने पहली बार उसे पुकारा। लता डरी-सी—चुपचाप सामने आकर खड़ी हो गई।

"लता········"

"जी,········आप घबड़ाइये नहीं। मेरी ओर से आपको किंचित भी कष्ट नहीं मिलेगा। आप निश्चिन्त रहिये········आपके मान की रक्षा········," कहते-कहते लता ने अनुराग का अन्तिम—श्वासोच्छ्वास—

आक्सीजन की भाँति खींचना प्रारम्भ कर दिया''''और आगे कुछ कहे बिना, चुपचाप वह कमरे से निकल आई।

ज्यों-ज्यों बंगले में भीड़-भाड़, व्यस्तता और व्यवस्था बढ़ती गई—लता डूबती चली गई। घर के लोगों से उसकी छाया भी दूर हटती चली गई। सहेलियां कहतीं—"लाडो लाज के मारे अभी से कमरे में बन्द हो गई है।"—लता की हूक कहती—"सचमुच स्नेह की लाज ने मुझे बन्द कर दिया है—समाप्त कर दिया है"—और अमिता—बानू—यह-वह की तड़पती तस्वीरें लता के चारों ओर भी नाच गईं।

उसकी अपनी तड़पन का साथ उसके शरीर ने दिया जो क्षण-प्रतिक्षण क्षीण होता चला गया और दया आई दिव्या को जो चुपचाप सब सह लेने की स्वपरिचित-सी सान्त्वना निरन्तर थपकियों की तरह लता को देती रही''''''''

"लेकिन—तुम यह सब कुछ तो कहती हो—क्या यह भी चल जाता है कि सब घेरे में घिरे रह कर भी—कोई इतना सात्विक, इतना—एक का हो रहेगा। मुझे लगता है—दुनियां में और सब बातों की तरह यह भी एक बड़ा धोखा है''''''''।"

"लता—तुम्हें इन सब बातों से मतलब क्या? अब किसी ओर मत सोचो''''''''।"

"यह सोच तो जीवन के साथ हो गया; क्या इससे इंकार करती हो''''''''।"

"चलो, ठीक है—मन में न जाने कितनी-कितनी बातें दाबे—सबको जीना पड़ता है।"

"अपनी सीख दे रही हो।"

दिव्या मुस्करा दी। लता के रक्तहीन ओठों पर भी पीली-ललामी लिये मुस्कराहट की क्षीण रेखा दौड़ गई।

× × ×

"देखिये—मैं आपसे कह रहा हूँ, लता की शादी के पहले कुछ ऐसी व्यवस्था कर ही लीजिये जिससे कुछ अनहोनी न हो सके। आप जानते हैं वह बहुत पाजी किस्म का आदमी है। न जाने कैसी-कैसी खबरें इधर-उधर फैल रही हैं," शान्तिस्वरूप के एक अनन्य मित्र ने उनसे कहा।

"मैं—कभी परवाह नहीं करता हूँ," शान्तिस्वरूप ने दृढ़ता के स्वर में कहा और उत्तर देकर वे सामने फैली कीमती साड़ियों के चुनाव में व्यस्त हो गये।

"फिर भी मेरा एक सुझाव है," मित्र ने बात दोहराई।

आकृति कुछ तिरछी करते हुये शान्तिस्वरूप ने प्रश्न किया—"क्या ?"

"आप उससे मिलकर कुछ बीच का मार्ग निकाल लीजिये," शान्तिस्वरूप के प्रश्न से उत्साहित होते हुए मित्र ने कहा।

"देखिये, दुबारा मेरे सामने अब कभी आप ऐसी बात न दोहराइयेगा।.........आपको शर्म नहीं आती। क्या इसमें कुछ बीच का मार्ग भी निकल सकता है ? ....बीच का मार्ग हो ही क्या सकता है ? क्या आप मुझको बेवकूफ समझते हैं ?" शान्तिस्वरूप ने अत्यधिक आवेश में कह डाला।

जीवन में प्रथम बार—शान्तिस्वरूप के वैसे क्रोधावेश का अनुभव करते हुये भी अत्यधिक शान्त-भाव से मित्र महाशय ने पुनः कुछ रुककर कहा—"मेरा वैसा आशय कदापि नहीं—आप गलत समझ रहे हैं शान्ति बाबू। मैं जो कह रहा हूँ—कम से कम शान्ति से सुन तो लीजिये।"

"क्या सुनूँ? क्या अब कुछ कम पाया है ? मैंने सब सुन रक्खा है। आपका भी गठबन्धन रहा है। आपने माल उड़ाये हैं—लोगों ने मुझ से यहाँ तक कहा है," शान्तिस्वरूप ने तख्त पर से उठते-उठते कहा।

"कहा होगा।"

"तो क्या बिना उसके, सिफारिश करने आये हो।"

बात को पीकर कुछ देर तो मित्र महोदय मौन बैठे रहे किन्तु जैसे ही कुछ कहने के लिये उन्होंने मुंह खोला शान्तिस्वरूप पुनः बरस पड़े—"क्या आप चाहते हैं कि मैं उसके सामने घुटने टेकूं। वह—वह जो इतना पाजी, और बदमाश है। जिसने मेरे साथ—मेरी मित्रता के उत्तर में यह सलूक किया। जिसने मुझे और मेरे सारे परिवार को बदनाम किया। जो अपनी कोशिश भर मुझे कहीं का नहीं रखना चाहता। जो आज तक अपनी बदतमीजियों से नहीं रुक रहा है। आप जानते हैं.........आपको सब मालूम है—जाली तस्वीरें लिये घूमता है—मेरी बच्ची को बदनाम करता घूमता है।.........और....और.... कमजोरी तो इन नादानों की ही है। लेकिन वह कम्बख्त....पत्रों की दुहाई देता घूमता है। जानते हो कितने लोगों से वह मिलता है सिफारिश कराता फिरता है। एक पिता से सिफारिश कराता है कि.... उसके साथ आप भी नीचता पर उतर आये हैं। उसकी सिफारिश लेकर आये हैं। जहां मैंने लड़की का रिश्ता तय किया है वहां तक तो वह गया है। मैंने सुना है। किन्तु वे लोग भी यों परेशान होने वाले नहीं हैं। यह सब क्या है ?.........कहता है मर रहा हूं—प्रेम करता हूं—प्राण दे दूंगा—शादी करूंगा....किससे ? इन्हीं कर्मों से। और अपनी बीवी को कहां ढकेलेगा ?" शान्तिस्वरूप ने क्रोध में तमतमाते हुये कह डाला।

"सब माना। यह सब ठीक है। किन्तु........."

"किन्तु क्या ?"

"नीति कहती है कि परिस्थिति देखकर दबी उंगली धीरे से पत्थर हटाकर निकाल ली जावे। वही दूरदर्शिता, बुद्धिमानी व स्वाभिमान है," मित्र महोदय ने पूर्णतः निश्चिन्त भाव से कहा।

शान्तिस्वरूप ने एक क्षण सोचा और कुछ स्वस्थ होते हुये बोले—"आपका मतलब क्या है ?"

"आप स्वयं उससे मिलिये। सामने-सामने दो बातें हो जायेंगी—सब शान्त हो जावेगा। लोगों ने एक दूसरे का मस्तिष्क बहुत विकृत

किया है। और क्या कभी एक दूसरे से मिले नहीं हो ? कितनी घुटती रही है—कुछ दिनों पूर्व………।"

"इससे लाभ…।"

"होगा वही जो होना होगा। केवल अहं को कुछ सन्तोष मिल जावेगा। शान्तिस्वरूप समझो।"

× × ×

"तुम इतने अधम, इतने नीच, इतने पामर………बेशर्म………," दिनेश के चाचा आवेश में लाल होकर चिल्ला रहे थे। दिनेश नीची दृष्टि किये चुपचाप बैठा सुन रहा था।

"किशोरी………दुष्ट नालायक लड़की………तू यहाँ आई कैसे ? इस वक्त कैसे आई तू यहाँ ? अब क्यों चिल्ला रही है ? जा हट—मर जा मेरे सामने से। अब रो रही है………," और रूप की सिसकती चांदनी-सी किशोरी—साड़ी के सफेद पल्ले से अपना लाल मुंह ढक कर आंगन से चली गई।

एक डरावनी निस्तब्धता चारों ओर फैली और तभी पुनः अपनी दृष्टि को भूमि पर गड़ाये हुये चाचा पुनः चीख उठे—"आज हमारा खानदान मिट गया। आज मेरे घर की नाक कट गई। कहां मुंह दिखाऊंगा ? इसकी ससुराल वाले हवा भी पा लेंगे………तो………हाय… क्या होगा ? ओफ ! कोई भी सुनेगा तो………। नीच………नराधम," कहते-कहते वे चले गये। जाते-जाते भी वे कह रहे थे—"आज इसे माँ और बहन भी नहीं दिखाई देती………जा इसी वक्त निकल जा मेरे घर से।"

दिनेश चुप गुटुर गूँ—बना रहा। तभी हड़बड़ाते हुये उसकी पत्नी ने कमरे में प्रवेश किया और एक सांस में कह गई—"तुम………बीबी-जी………। तुम्हें कोई शर्म नहीं रह गई। और कल ही अपने………उस अक्षय से कह रहे थे—उस लड़की से मेरी शादी न हुई तो मर जाऊंगा। मुझसे कह रहे थे—'तुम चाहो तो हो जावे। तुम कह दो। तुम ही एक

बड़ी रुकावट हो········' । और यह······कर बैठे। वह········बहन तो है। क्या होगा तुम्हारा········।"

और दिनेश ने झपट कर एक जोर का तमाचा—सामने खड़ी अपनी पत्नी के लगा दिया। एक चीख के साथ वह पास की कुर्सी पर आ गिरी। मन ही मन पत्नी ने अपने भाग्य को सराहा और चुपचाप संभल कर कमरे के बाहर हो गई।

उस रात्रि के सन्नाटे में—दिनेश लापरवाही के साथ सिगरेट का कश खींचता—देर तक छत पर टहलता रहा। किशोरी—दूर या पास की—बहन लगती थी— यह सोचने की चेष्टा करना उसके विचारों के प्रतिकूल था। उस समय केवल वह यही सोचना चाहता था—असावधानी से तूफान मच गया। और मूर्ख········चिल्ला दी········। किन्तु क्या होता है। चाचा की ऐसी की तैसी। कहते हैं घर से निकल जा। चाहे मुझे एक हुंडी और लिखनी पड़े किन्तु बंटवारा करा के हटूंगा।

किन्तु—वह स्वयं क्या कर बैठा ? उसका उसे किंचित भी क्षोभ न था। खेद कैसा ?

× × ×

लता ने—पत्र में वह सब पढ़ कर दीवार से सर दे मारा।

दिनेश की पत्नी ने—घर में हुये उस पापमय-काण्ड की सूचना विशेष प्रयत्न करके लता को लिख भेजी। पत्र भी—ठीक से लता को मिल गया।

उस पत्र के अन्तिम वाक्य थे—"मैं तो जाऊंगी ही । हां—तुम ऐसों से अवश्य शादी कर लेना। जरूर करना इस मूर्ख और अभागी की बात मान लेना········"

भाग्य को कोसते हुये लता ने वह पत्र दिव्या के सामने रख दिया। पढ़कर, दिव्या हाथ से उस कागज की धारियां बन्द करती गई और उनकी दृष्टि सामने गढ़ी की गढ़ी रह गई। तभी अनायास वह सब कुछ

सोच कर उन्हों ने दोनों हाथों से अपना मुंह ढांप लिया।

लता के मन में उठा-उन दिनों का अन्तर्द्वन्द्व—क्षण-प्रतिक्षण उग्र होता चला गया। इतने पर भी उसका अन्तर जिस प्रकार धू-धू करके जल रहा था ऊपर से वह उतनी ही शान्त, मौन, गम्भीर व स्थिर होती चली जा रही थी। कोई यह जान भी न पा रहा था कि उसके गात की उस श्वेत-मुद्रा के अन्तरङ्ग में प्रज्वलित ज्वाला से निकलता धूम्र उसका सब कुछ ध्वंस किये जा रहा है।

न जाने कितने दिवस—पलक मूंदे—लता खाट पर पड़ी रही। लगभग एक मास उसके विवाह का शेष था। जीवन किस मोड़ पर जा रहा था? प्रणय—उसका प्रसंग भी—मर्म भेद रहा था। विवाह—अब अनिवार्य शीघ्रता बन चुका था। और वह सोचती रही—"अब मैं चाह कर भी मन के उन झरोखों को न झाकूंगी, मन के उन कोनों को टटोलने का अब साहस न करूंगी। सामने—जीवन के कुछ नवीन पृष्ठ खुलने को हैं—मन जानता है उन अनदेखे पृष्ठों की काली-काली सी तस्वीरें—बरबस, अनचाहा प्रभाव उत्पन्न करेंगीं किन्तु वह सब अब निश्चित सा है। वही सब होकर रहेगा। वही सब करना भी होगा। वही उचित है—अनुचित है—यह झगड़ा क्या? किन्तु यह सब हुआ। क्यों हुआ? कैसे हुआ? दोष किसका है? यह सब भी व्यर्थ है।

किन्तु''''''''व्यक्ति में—उसमें जो—स्नेह का दम्भी है—इतनी गिरावट, इतना अनाचार। सचमुच अनुभव-शून्यता ही एक कारण है। यह सब कितना बड़ा धोखा है। और वह जान देने-लेने की गड़गड़ाहट—कितना बड़ा भ्रम है।

और सगाई—संस्कार—इस मान्यता, इस बन्धन, इस परिवर्तन, इस आश्रय, इस सबको मानना होगा। पिताजी को मानना ही होगा।

बस इसके पूर्व का सब समाप्त—सब विस्मृत।

मैं दृढ़ हूं।

———

Love R NO or
PRANA Jiction
of H.L. Pearclas
by RRa

दिनेश की विचित्र गति देख-देखकर लोग हैरान थे। उसके सा रस-पीता भंवरा केवल एक फूल पर टिक जावे—यह सोचकर ही लोग कहते—"कुछ भुलावा है.........।"

किन्तु दिनेश यही सिद्ध करना चाहता था; इस बार भुलावा नहीं है। इस बार ....वह एक को अपना कर रहेगा—किन्तु मन के मानने से भी आगे की उसकी इन्द्रिय-कामुकता उसे विवश किये बिना न रहती। किशोरी—काण्ड अभी पूर्णतः नवीन ही था।

यह सब होते हुये भी विरह की तरंग आने पर दिनेश उस क्षण सात्विकता का ऐसा पूजक प्रतीत होता कि लगता—इसकी रक्षा होनी ही चाहिये। वासना की जो खीझ—इन्द्रियासक्ति में लिपटती, विरह में वही मसोस कर रख देती। जब वह लता के विरह की टीस में तिलमिला उठता तो नारी का वह भरापन, वह मांसलता, उसका वह घेरता घेरा उसे अमिता के भूत से भी भयानक प्रतीत होता और निराशा के उस धुन्ध में वह मन की खिन्नता पाकर अनेक बार—वास्तव में रो देता। अपने किये पर पश्चात्ताप करता। जो गिरावट, जो ओछापन, जो कलुष-सा वह अपने में सोच पाता—उसपर स्वतः कभी-कभी मन में खेद प्रकाश करता। अनेक बार वह अपने से ऊबता भी। तभी वह विरागी सा—केवल लता की ओर दौड़ पड़ने को उद्यत होता। और सचमुच उसके मानव का—दानव के अतिरिक्त का—वह

दूसरा रूप था जो प्रणय-जन्य आकुलता, विरह और निराशा में ही उभर पाता था।

किशोरी के परागमय आनन्द—उपभोग के बाद के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, पारिवारिक विद्रोह व लता के प्रतिक्रिया सूचक चिह्नों से दिनेश विरागमय होने लगा। जब उसे ज्ञात हुआ कि उसकी पत्नी ने उस सब की सूचना लता को देने की धृष्टता की है तो एक ओर जहाँ पत्नी पर वह अत्यधिक क्रोधित हो उठा था वहीं दूसरी ओर उसने एकान्त में अनेक बार कसमें खाईं—बस, लता के प्यार में ही जिऊँ या मरूँगा उसी को अपना कर रहूँगा जिसने मुझे इतना झकझोरा है—मेरी प्रकृति को इतना परिवर्तित किया है।'

किन्तु अपने में ही वह यह सोचकर भी सन्तोष कर लेता—'प्रकृति बदलती कब है ?'

इसी उधेड़बुन में वह अपने वायुमण्डल, अपने वातावरण और अपने निकटतम रंगीन साथियों को छोड़कर निकल भागता—कहीं दूर।

बवंडर इतना उग्र था कि वह अपने से अनेक बार चाह कर भी लता के बंगले की बाउंडरी तक के दर्शन करने से वंचित रह जाता। कई ओर से सूचनायें आई थीं कि लोग उसके पीछे हैं। उस डर से अधिक डर सम्मान का उसे अवश्य था।

इधर जबसे उसे यह ज्ञात हुआ था कि उसकी पत्नी ने किशोरी-काण्ड की सूचना लता के पास भेजी है तब से वह पत्नी के प्रति विशेष क्रोधित था। अपने दोष के प्रकट होने पर उसका मूल-आरोप किसी अन्य पर होना बड़ा स्वाभाविक सा होता है।

इसी सबसे वह कई दिन से, सुनसान पड़ा—मन को मसोस रहा था।

इधर अक्षय भी उससे दूर हो गया था। घूमने की गतिविधियाँ—दिनेश की—कम हो गई थीं अतः अक्षय का सम्पर्क भी कम रहता था। अनायास उस दिन दोपहर के बाद अक्षय आया।

निकट ही तखत पर उढ़कते हुये अक्षय कह गया—"बड़े-बड़े करतब दिखा डाले। आखिर किशोरी.........को,"

दिनेश की वक्र-दृष्टि से अनजाने सहम कर अक्षय कहते-कहते रुक गया। तब दिनेश ने स्वयं बात जोड़ी—"हाँ कहो-कहो—क्या कह रहे थे ?"

"यही कि आदमी चाहे जितना पाजो हो—बहन—बेटी—माँ का ध्यान कभी नहीं छोड़ता.........।"

"हूँ.........."

"यह पाप भी करके ही माने।"

शून्यता के डरावने घेरे को कुचलते हुये—भर्राये से गले से दिनेश बोला—"अच्छा, तुम पाप-पुण्य जानते हो। तुम पाप की बात कह रहे हो। ओ ! तो तुम्हारी वह 'सेक्स-थ्योरी'.........पाजी कहीं के.........खैर। तुमसे मेरा मतलब ? तुम होते कौन हो—इस तरह की बेहूदी बातचीत करने वाले ?"

"ठीक कह रहे हो। ठीक कहते हैं—श्रीमान जी। नीचता करें—ऊपर से बिगड़ें.........सभी की यही रीति है।"

"तो, मैं डंका पीटता फिरूँ कि मुझे शर्म आ रही है। उसके बाद से सचमुच मुझे कितना आत्मिक क्लेश है—मैं किससे कहूँ ? तुमसे.....। तुम्हारे जैसे नीचतम—व्यक्ति से। जो दूसरों को उपदेश करना भी उतनी ही मक्कारी से जानता है—जितनी उसकी अपनी, अद्वितीय मक्कारियाँ।.........ओफ ! वह.........वैसा सा बावलापन—उसे कोई रोक पाता तो देवता हो जाता। लोग रोक लेते हैं। यह धोखा है—भुलावा है—मक्कारी है.....।"

कहते-कहते दिनेश आवेश में, तकिये में मुंह ढांप कर पड़ रहा।

अक्षय निकट आकर दिनेश के बालों को सहलाता रहा। तभी अनायास दिनेश ने सर उठाया और एक जोर का थप्पड़ अक्षय के गाल पर लगाते हुये बोला—"निकल जाओ यहाँ से। हरामजादा—उपदेश

देता है। सैंकड़ों चूहे खाकर दूसरों को सीख। तुम्हीं लोग पाप का नाम लेकर दूसरों में पाप उभारते हो। तुम्हारे जैसे वासना के दलालों को शूली पर चढ़ा देना चाहिये।........निकल जाओ इसी वक्त। अब मुझे तुम्हारे जैसे लोगों को एक क्षण को भी आवश्यकता नहीं........।"

अक्षय की तिलमिलाहट में जैसे फुफकारता सांप जागा हो।

शान्तिस्वरूप के बंगले में जब कोई न मिला तो वह प्रतीक्षा में बाहर बरामदे में पड़ी कुर्सी पर बैठ गया।

पाँच मिनट बाद ही कार द्वारा शान्तिस्वरूप बंगले आये। बरामदे में अक्षय को बैठा देखकर शान्तिस्वरूप किंचित आवेश में आ गये। अक्षय से वे भली भाँति परिचित थे और उसके कार्य-कलापों से भी। उसकी उपस्थिति निश्चित ही कोई नया स्वांग व्यक्त करेगी यही सोचकर कार से उतरते-उतरते शान्तिस्वरूप ने एक व्यंग्यात्मक—"कहिये—" के द्वारा अक्षय का सत्कार किया।

उस 'कहिये' में जैसे अक्षय को दिनेश के दूसरे तमाचे का अनुभव हो रहा हो इस उद्वेग में भी संयत भाव से अक्षय ने मुस्कराते हुये कहा—"आप ही के पास आया था........"

"बंगले के बाहर निकल जाइये। मैं कुछ सुनना नहीं चाहता।"

"किन्तु........"

"................"

"किन्तु, मेरा दिनेश से अब कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। मैं तो आपसे केवल इतना कहने आया था कि लता को बल प्रयोग से हटा ले जाने की योजना से सतर्क रहियेगा—केवल। मैं जाता हूं।"

शान्तिस्वरूप ने सरोष मुद्रा में एक बार अक्षय की ओर देखा और बिना कुछ कहे अन्दर चले गये।

दिनेश के प्रति विरोध की प्रतिहिंसा में मिसमिसाता अक्षय कमरे के बाहर हो गया।

× × ×

'केनाट-सर्कस' के उस झिलमिलाते व्यस्त वातावरण में—थिरकती तस्वीरें आ-आकर दूसरी ओर को निकल जातीं। दिनेश किसी को न देखता।

मित्रों की टोलियाँ निकट की मेजों पर बैठी कहकहा लगाती रहीं किन्तु सदैव घिरा रहने वाला दिनेश—चुपचाप, ऊपर के केबिन में जाकर बैठा 'ह्विस्की' के स्थान पर खस के शर्बत की चुसकियाँ ले-लेकर निराशा और निस्तब्धता के शान्त घूंट कंठ के नीचे उतारता रहा और अनेक बार उस चित्र को देखता रहा जिसे वह अभी-अभी स्टुडियो से बनवा कर लाया था।

चित्र में दिनेश व लता एक साथ बैठे थे—जबकि लता ने कभी भी दिनेश के साथ चित्र नहीं खिचाया था। दिनेश के अनेक अनुरोधों पर भी उसने बात टाल दी थी। किन्तु अपने व्यय व कलाकार के कृतित्व दोनों की सराहना में दिनेश—मन का संतोष पाना चाहता था।

किन्तु वास्तव में यह वह आरोप था जिसके द्वारा वह स्नेह के आडम्बर में अन्तर्निहित विद्वेष और प्रतिहिंसा के रूप में समाज के नग्न-हास को उभारना चाहता था—यह कि समाज देखे और अपनी प्रतिक्रिया के उपहारों से लता की झोली भर दे और तब उस झोली के कलुष को—लता के मूक-अश्रु से प्रवाहित दैन्य-धारा भी न बहा सके। अब स्थिति अनुराग की उस जड़ता की सी थी जिसमें प्यार की अन्त्येष्टि-आवेश और तिलमिलाहट में—विद्रोहाग्नि कर रही थी।

यों अपनी जेब में लता की प्रतिच्छाया को लेकर वह शान्तिस्वरूप को दाब सकेगा—इस दुर्बुद्धि की सूचना जब लता तक पहुँची तो लता—कड़वाहट से भी तीव्र घृणा का विष पीकर मौन-प्रतिरोध के लिये दृढ़तर हो गई।

उधर—दिनेश को मित्रों में से अनेक ने प्रोत्साहन दिया। कुछेक ने मन ही मन उसको धिक्कारा भी। कुछ उसको सत्य मान सहम कर रह गये।

चित्रकार की दूषित—प्रभावना किसी अबोध के प्राण खींच रही थी और उस कूँची की कालिमा से प्रसन्न दिनेश—उसको जेब में डाले—केनाट-सर्कस और न जाने कहाँ-कहाँ—किस-किस तक—लिये घूमता फिरा।

यह वही सात्विक प्रेम है, वही निर्मल प्रेम है; वही त्यागमयी भावना है; वही वासना-रहित कामना है; वही एक-निष्ठा है; उत्सर्ग की वही वेगवती हूक है; ये सर्वस्व न्योछावर के—प्राण होम कर देने के अमित वचन हैं जो प्रिय ने प्रेयसि को—आलिंगन पाश में आबद्ध करके दिये थे—जो चाहना नहीं कराहना जानता है। किन्तु इसका यह रूप भी कितना सत्य है। सचमुच यह उसी सर्वव्यापी प्रेम की सुनहली-रुपहली नहीं अपितु काली-सी प्रतिच्छाया है जो—आज दिनेश के से असंख्य प्रेमियों में व्याप्त है जिसका एक-मात्र लक्ष्य है—मीठे मुखड़ों को चूमना, उलझे केशों में झूमना, उठते उरोजों को भींचना और चढ़ते यौवन को अनुराग से नहीं काम-रस से सींचना और.........

कितने अधरों की रक्खेगी
याद भला मादक....हाला

तब वहाँ हाला का वह दार्शनिक रूप नहीं जो जीवन और मृत्यु के गहन सत्य के रूप में संसार में व्याप्त है। वहाँ तो केवल अधरों के मादक स्वाद का ही छिछला संतोष है जो लिप्सा के आवरण में लिप्त है।

तभी ललचाई किन्तु अबोध प्यास को—कामातुर हो—वे छरहरे—छिछोरे युवक टूट पड़ते हैं—पी जाने को, आत्मसात कर डालने को, वह सब कर उठाने को जिसे अनाचार कहते हैं। क्योंकि उन्हें घर

झांकने आते हैं उन्हें बाजार घूमना भी आ जाता है। एक चीज को देखते-देखते— सब्र से—वे दूसरी के सामने वाक्जाल रूपी पैसे को फेंक कर उसे खरीदने को झुक पड़ते हैं; और आज इस आधुनिक आकर्षण के मीना बाजार में—लाइन की लाइन बने बंगले, लाइन के लाइन मकान; वे रूप के नाना 'कट' और उम्र के विभिन्न 'स्टैन्डर्ड' जो बनते बिगड़ते रहते हैं।

यही क्यों—दोष उन उद्दण्डों का ही क्यों ? आज यह मनोविकार उन ललित-कामनियों में उससे कम मात्रा में नहीं है। उच्छृङ्खलता, आवेश, उदारता, अनुभवहीनता में अनुराग की तपन और तन की झुलसन को शीतल करने में—आज 'फेयर-सेक्स' जितना 'एडवान्स' है—उतनी चेतना इतिहास कम बताता है।

'केनाट-सर्कस' में कनखियों से झांकते हुये जब उनके—दो-तीन या चार के झुंड आगे बढ़ते हैं तो वे हमजोलियों की धूप-चांदनी बिना कहे नहीं रहती—"जंचता है।" "ये कम्बख्त सिगरेट के धुंये न उड़ावें तो—कौन प्यार न करे। क्यों तुम कह रही थीं न''''इतनी ऊँचाई चाहिये।" ''''और यह केनाट-सर्कस में ही क्यों उन सभी कोनों में हैं—जहाँ ये तितलियां उड़ पाती हैं।

कान आपके भी कभी-कभी खरगोश की तरह खड़े हो जावेंगे जब कानों मे कनखजूरे का-सा स्वर रेग कर मस्तिष्क तक की कड़ी जोड़ देता है—

"We are neither voluptous nor sexy. We are only natural and lovables."

प्यार में प्रकृति की चेतना है। पर—वह अप्राकृतिक न हो—इसकी संभाल।

तब दिनेश दोषी है या नहीं है। तब वह अनधिकारी है या नहीं है। तब वह सुपात्र''''या''''। वह प्रेमी भी है''''या''''। बस वही जानता है।

किन्तु इस अन्तर्द्वन्द्व में—उसने विरोध की भभकती ज्वाला में—उन सभी तत्वों से सम्बन्ध स्थापित किया—जिनके द्वारा वह अपनी बात—अनुरोध पूर्वक नहीं—विरोध के तेवर में—कह सके, कहलवा सके—लक्ष्य तक पहुँचा सके। तब वह सोच जाता—तीर बैठ गया तो""तो दिशायें मुड़ जावेंगी; राहें घूम जावेंगी; लोग दंग—देखते रह जायेंगे और तब मैदान उसका होगा।

एक लम्बे समय से—जीवन के अनेक वर्ष, मास व दिवस और दिवस के अट्ठारह घंटे—बीस घंटे—चौबीस घंटे उसने मादकता में झूमने, मादकता को चूमने और मादकता में हिलोरें लेने में बिताये थे। भर-भर जाम के बाद जी भर कर उसने हरित और कुमारिल यौवन की पंकिल छांव में इठला कर जी भर कर अठखेलियाँ की थीं। वह जी भर कर पीता और जीता रहा था। किन्तु हरीतिमा में छिपे किसी कांटे का अनुभव—विचित्र-सा—इधर उसे प्रथम-बार ही हुआ था। इन्द्रियों की चाह रस में डूबी रह कर भी—इधर उसका मन एक का हो कर जीना चाहता था किन्तु वही सब जो स्वभाव बन चुका था अतः विरह के मौन संतोषामृत को न पीकर वह उर्दू का उद्दण्ड आशिक बना जा रहा था जो अपना फटा दिल लिये—जगह-जगह दिखलाता घूमता था व चाहता था कि दिल के हज़ार टुकड़े—जो इधर-उधर गिरे थे—कोई जोड़ कर एक कर दे—तब तो, वह एक का हो सके।

और ये सारी परिस्थितियां, सारी सूचनायें, सारे कार्य—कांड—अनेक दिशाओं से आकर लता से टकराते। "इनसे यह भी सम्भव था" मूक-स्वर मन और ओठों में झूम जाते—और तब वह भाग्य को सराह कर अब केवल उस क्षण की क्षीण आशा में पीली पड़ी जा रही थी जब सचमुच वह और उसके हाथ—पीले होने को थे।

किन्तु दिनेश की उच्छृङ्खलता जिस सीमा को पार कर रही थी—लता उस सीमा तक और दृढ़, और गम्भीर, और-और सात्विक होती चली जा रही थी। उसने अब दृढ़ होकर सोच लिया था कि जब उसके

जीवन की निश्चित धारा आधारित कर दी गई है तब वह कर्तव्य-च्युत कभी न होगी।

उन्हीं दिनों उसे दो ओर से संदेश मिला कि दिनेश मिलना चाहता है। कठिन घेरे को पार कर किसी प्रकार एक स्लिप लता तक पहुँची और न जाने कहाँ से घूमता फिरता—बंगले का पुराना ड्राइवर बंगले जा पहुँचा और पुराने स्वामिभक्त नौकर को देखकर जहाँ घर के लोगों में वह किंचित आकर्षण का कारण बना वहीं दूसरी ओर वह आकर्षण डंक भी मार गया। बातों-बातों में एकान्त पाकर उसने लता से कहा—"बाबू ने आने को कहा है।"

संदेश को लता पी गई। जिन उपहारों से दिनेश ने ड्राइवर को कृत-कृत्य किया था उन्हीं ने आज दिनेश को कृत-कृत्य करना चाहा। जिन कार्यों से वह नौकरी से निकाला गया था उसी कार्य से उसने अपने स्वामी के नमक को भी बदले में पानी कर डाला।

लता में उदासी की जो मौन रेखायें इधर उधर आई थीं उन्हीं के घेरे में—वह अपने कमरे के घेरे में ही—शादी की जगमगाहट से पृथक्—जा बैठी। उसकी निर्जनता के स्वर—शहनाई से मीठे जो थे।

और दूसरी ओर की उचटती चाह, मिलन की निराश उद्भावना—उसकी अपनी जुगुप्सा—न चाह कर भी चाह गई——एक बार तो—अन्तिम बार तो····मिल लें।

———

२३

दिव्या अधिक समय देहली न रुक सकीं। लता के विवाह की तिथि छोड़कर—केवल २०-२५ दिन पूर्व वे आसाम की तलहटियों में पहुँच गई। जाते-जाते उनका मन बहुत टूटा—लता से लिपट-लिपट कर वे यों रोई जैसे लगा उसकी निराशा को वे अपने सामने ही आँसुओं में बहा देंगी और तब—कुछ ऐसा नया-सा उत्साह लता में भर देंगी—जिससे वह आगामी नवानुभव की पृष्ठ-भूमि का आभास पा सके।

उनकी द्विविधा—लता को शान्ति और संतोष मिले—किन्तु—विरह-जन्य अनुराग को न भुला कर भी वह भुला दे और उस प्रणय ग्रन्थि को दाब कर भावी परिणय-ग्रन्थि को तत्पर हो—उन्हें और लता दोनों को करोंचती रही और तब उस वातावरण से एक छुटकारा-सा मानकर वे चल ही तो दीं।

इधर दिनेश—ज्यों-ज्यों लता के विवाह की तिथि निकट आती जाती थी—त्यों-त्यों अधिक साहस और दुरूहता को लपेट कर कुछ कर उठाने को तत्पर होता गया। लता को वह पाना चाहता था। निरीहता में उसे विश्वास नहीं था—दिल थाम कर बैठना—उसे मूर्खता के लक्षण प्रतीत होते थे—समझौते का कोई प्रश्न था ही किधर से ; तब एक ही मार्ग था कि वह विद्रोह करे और अपने कौतुकों से वह वातावरण को प्रकंपित किये रहे।

अनेक कार्यों और लक्ष्यों की पूर्ति के हेतु वह सप्ताह दो सप्ताह में

ही हजारों मील घूम ग्राया। क्यों ? इसका पता वह किसी को देता ही कब था। इधर ग्रब उसके ग्रन्तरंग दूर-दर्शक ही बन रहे थे।

तब ग्रकुला कर—उकता कर उसने नई पहचान की मान्यता में दिव्या को एक लम्वा-सा पत्र लिख डाला।

दीदी,

नमस्कार। ग्राप भी चली गईं। ठीक है—मुझे छोड़ कर सभी जो, जा रहे हैं। किन्तु यों मेरा खत देखकर ग्रापको शायद ग्राश्चर्य हो, मुमकिन है ग्राप सब हमें भूल भी गये हों, किन्तु मैं भला ग्राप सब की स्मृतियों से विलग कैसे रह सकता हूं। ग्राशा है ग्राप सब सकुशल होंगे, ग्राप मेरा हाल जानना चाहेंगी। शायद व्यर्थ है दीदी, मेरे दुःख सुख का इतिहास न जाने किसके हाथों ने लिख दिया है—जो कहीं शान्ति नहीं। हिन्दुस्तान घूमा, हिन्दुस्तान के बाहर भी घूम ग्राया पर चैन नहीं मिलता। लता ने तो पलट कर देखा भी नहीं—मेरी सारी जिन्दगी उसी में सिमटकर रह गई। वो गई—गई ही समझिये—तो लगता है सब कुछ लिये जा रही है। दीदी, बड़ी कोशिशें भी करता हूं, पर कुछ हो नहीं पाता। हर समय एक ग्रजीब-सा दर्द उठा करता है, जिसके कारण जिन्दगी तबाह है। बहुत घूमा, बड़ा रुपया बहाया, नाच गाने सुने। पर उसे भूल नहीं पाता हूं।

एक बेवफा से चाह किये जा रहा हूं मैं,
यूं जिन्दगी तबाह किये जा रहा हूं मैं।

दीदी, ग्रापको तो वह मिली ही। सच बताइये, क्या उसने मेरा ध्यान करना छोड़ दिया ? क्या करूं, कहां जाऊं, समझ में नहीं ग्राता। कुछ काम नहीं होता। कभी गुस्सा ग्राता है। शुरू करता हूं तो ग्रधूरा छोड़ देता हूं। काम भी बहुत है। रुपया भी बहुत है। मैं कर भी शायद बहुत कुछ सकता हूं—पर कुछ हो नहीं पाता। बेहद थक गया हूं। कोई प्यार करने वाला ही नहीं रहा—लगता है मेरा कोई नहीं है, मुझे

किसी का प्यार नहीं मिलेगा। सब कुछ होते हुये, जिन्दगी भार हो गई है। मृत्यु की कामना किया करता हूं। पर वह भी नहीं मिलती।

अब कहीं और प्यार हो जाये—क्या इसका प्रयत्न करना भी सम्भव है? काश लता मिल जाती तो जिन्दगी दूसरी हो जाती। किन्तु, अब तो लगता है जैसे मेरी मोहब्बत के जज्बात कुछ हैं ही नहीं। दीदी, लता ऐसी निकल जायगी, मुझे पता नहीं था। इतने दिनों में मैं कभी नहीं भूल पाता किन्तु वह भूलकर भी याद नहीं कर पातीं। लगता है जैसे उसने भुला दिया तो मैं भी भूल गया। दो लाइन भी—सान्त्वना की नहीं लिखतीं। जैसे अब शायद उनकी बेइज्जती हो जाय, जल्लाद कहीं की। मैं सब कुछ करने को तैयार हूं अगर कोई उसकी याद मेरे दिल से निकाल दे। दीदी—बड़ा दुःख है, सहा नहीं जाता। इधर बम्बई भी गया था—वहां मि० गुप्ता मिले थे। आप लोग प्रसन्न हैं—उसे सुनकर खुशी हुई। अब तो तबियत भी खराब रहने लगी है। जिन्दा रहना नहीं चाहता हूं।

यह भी पता नहीं—दीदी। वह है कैसी? क्या बताऊँ, दीदी। कभी-कभी ऐसा पागलपन का ख्याल आता है कि सोचता हूं—काश! लता अब भी सब कुछ छोड़ कर मेरे पास आ जावे। मैं तो अब भी उतना ही चाहता हूं व चाहूंगा। मेरी जिन्दगी सुधर जायगी। इधर तो लता ने—लगता है मुझसे बिलकुल नाता तोड़ दिया। पर भला वह मुझे—मिले—यह कैसे हो सकता है? है न? इधर, दो लाइन ही लिख दिया करती तो सन्तोष रहता। किन्तु, उसने तो बेवफाई की इन्तहा कर दी। खैर, सब खुश रहें। मैं अब उसे याद क्यों आने लगा? अगर मैं—ऐसा जानता तो शादी की बात तक न होने देता चाहे खून की नदियां वह जातीं। आप भी इतनी निर्मोही निकलेंगी, यह भी मैं कब जानता था? नहीं तो आप ही उससे दो लाइन लिखवा देतीं। खैर, मैं तो बेवकूफ, आवारा, लावारिस सभी कुछ हूं क्योंकि प्यार जो करता हूं। सबको मेरा प्यार। सबको मेरा सलाम। कभी तो दर्शन करा

दीजिये। एक ऐहसान और कर लीजिये। मरने के पहले देख लूं। क्योंकि अब ज्यादा देर नहीं है। जाने कब ऊपर से बुलावा आ जावे।

आप भी उचित समझें तो उत्तर दीजियगा।

जानती हैं—शादी की क्या धूम-धाम हो रही है? अब भला मैं क्या लिखूं?

अच्छा नमस्ते!

आपका

दिनेश

और दिव्या ने पहले सोचा—यह पत्र ऐसे ही लता के पास भेज दूं। "किन्तु—उफ! गजब हो जायगा। शादी सर पर है। छाती फाड़कर रह जायगी लता—और वे पत्र को यों ही पीकर रह गई।

× × ×

एक दिन रात्रि के सन्नाटे में—उस अन्तिम-मिलन की चाह में—दिनेश, लता के बंगले की बाउंडरी फांद कर—साहसी चतुर चितेरा-सा—लता के कमरे में, किनारे से जा पहुंचा।

कभी जब वह उस बंगले में आया-जाया करता था तब उसने उन स्थानों का एक-एक कोना झांक रक्खा था अतः सुविधानुसार उसने आगे हाथ बढ़ा कर खिड़की के पास लगे बोर्ड का स्विच दबा दिया। प्रकाश होते ही—सौन्दर्य-मूर्ति की जगमगाहट कमरे में फैली। तत्क्षण लता ने अपनी आंखें खोल दीं। चौंक कर अपने वस्त्रों को संभालते हुये लता उठ बैठी। अनायास—अपनी आरक्त मुखाकृति में पहले तो उसने अपने वे सुविशाल नेत्र सामने टिका दिये और एक क्षण को विचारमग्न हो गई तब तुरन्त ही अपनी दृष्टि उसने फेरी और दिनेश को ऊपर से नीचे तक देखा।

दिनेश—निर्निमेष लता को निहार रहा था। सर पर उसने रेशमी मफलर लपेट कर साफा-सा बना रक्खा था। आंखों का काला चश्मा उतार कर—उसने हाथ में ले रक्खा था। सलवार व कमीज में वह

पेशावरी पठान-सा—दूसरों की दृष्टि बचाने के अभिप्राय से—वेष बदल लता तक आया था। आने में वह कहाँ-कहाँ रुका—कहाँ-कहाँ झाँका—वही जानता था किन्तु कमरे में आकर उसकी खिली आकृति, मुस्कराहट में, लता के सौन्दर्य—उसके प्यार-अनुराग को पी जाना चाहती थी। दोनों ओर के मौन की उस नीरवता में दिनेश के ओठ फड़फड़ा कर रह गये""वह अतिरेक में कुछ बोल न सका। तभी बड़े क्षीण स्वर में उसने पुकारा—"लता""

घबड़ाहट में भी प्रिय-दर्शन के पुलक से आह्लादित लता यों ही मौन बैठी रही। तभी दिनेश आगे बढ़ा और पलंग की पट्टी पर बैठ गया। लता यों ही निश्चल बैठी रही। तभी बड़े धीमे-से—"लता—यों मौन""।" कहकर दिनेश ने अपनी मचलती बांह लता के कन्धों पर टिका दी।

बिना किसी स्वागत अथवा विरोध का भाव प्रदर्शित किये लता पहले तो चुप रही तब वह बोल उठी—"क्यों आये ?"

"न आता···?"

"नहीं···।"

दिनेश जैसे सहम गया हो। अनुराग की चट्टान पर लता के शब्दों की हथौड़े-सी चोट से दिनेश का सर चकरा रहा था। तभी वह प्रश्न कर उठा—"जाऊँ""।"

"हाँ""

और दिनेश उठ खड़ा हुआ। "मैं""जाऊँ""?"

"जी""। अब यह सब कुछ नहीं चलेगा।"

दिनेश""उतावला-सा—पुनः आगे बढ़ा। निकट आते ही—वह लता पर झुका तभी लता ने अपने को व्यवस्थित करते हुये कहा—"देखिये, अब आप यहां से चले जाइये।"

लता के स्वर की दृढ़ता में कराहकर दिनेश कह उठा—"सच""।"

"························"

"......................."

"कितना गलत काम किया है, आपने। घर भर में मेहमान फैले हैं। क्या आप मेरा नाश करने पर ही तुले हुए हैं....?"

"किन्तु....मैं कुछ कहने आया हूं।" एक ललचाई दृष्टि लता के माधुर्य पर टिकाते हुए दिनेश कह गया।

स्नेह के अतिरिक्त—'ऐसा रूप और यौवन....हाथ से जा रहा है'—दिनेश की भावना में यह बात विशेष करोंच रही थी।

"हाँ....जो कुछ तुम कहना चाहते हो—मेरे अतिरिक्त—इधर तो काफी लोगों से कह चुके हो। अब मुझ से कहने की क्या आवश्यकता है? ....देखो, इतनी रात को कुछ गड़बड़ हो—इसके पहले अच्छा है, यहां से चले जाओ....।"

"बस....एक...."

"मैं कहती हूँ....इस समय चले जाइये। मैं आपके हाथ जोड़ती हूँ," बड़े धीमे-से लता ने कहा और हाथ जोड़ दिये।

दिनेश चुप खड़ा रहा।

हाथ पीछे करके दीवाल की ओर हटकर दीवाल से लगते हुए दिनेश बोला—"सुना है, तुम्हारी शादी होने वाली है....?"

"हाँ...." लता ने दृढ़ता से कहा।

"तुमने स्वीकृति दे दी....?"

"हाँ...." लता ने भर्राये हुए गले से कहा और अपने उमड़ते आंसुओं को छिपाने के लिये उसने अपने हाथों से मुंह को ढांप लिया।

तत्क्षरण दीवाल में एक तीव्र धमाका-सा हुआ। लता ने घबड़ाकर ज्यों ही आंखें खोलीं—तो उसने सामने देखा—दिनेश ने बड़ी तेजी से अपना माथा दीवाल से दे मारा है। मस्तक में दाहिनी ओर रक्त बह आया है। एक क्षरण में अपने दाहिने हाथ के अंगूठे से रक्त-प्रवाह की उस लालिमा को दिनेश ने समेटा और लता की उभरती मांग पर अंगूठा चिपका दिया।

लता हड़बड़ाकर उठना चाह रही थी। उसके बन्धन ढीले हो रहे थे। पलक मूंदे-मूंदे—वह चल रही थी—तुरन्त दिनेश से चिपट जावे किन्तु अपनी दृढ़ता को वह थामे रही। तभी एक झटके से वह उठी। अपनी सफेद धोती का पल्ला फाड़कर उसने उस सफेद पट्टी को दिनेश के मस्तक पर बांध दिया।

क्वारे यौवन-सी दूधिया झिलमिलाहट में—माथे पर बंधी लता की धोती की वह पट्टी—दिनेश के सांवले रंग पर खिलकर रह गई। दिनेश ने तभी लता के हाथ चूम लिये और लता कुछ कहे, इसके पूर्व वह चुपचाप वहां से चल दिया।

लता—उस स्थिति में—दिनेश को अपने पास रोकना चाह रही थी। उस दृढ़ता के अनन्तर नारी स्वभाव की मृदुता में—उसमें—कोमलता आई। अनुराग की मान्यता में—मन की निरीहता कराह उठी और वह सोच गई—उस विरह-निराशा में—यदि—वह, दो क्षण और रुका रहता। अब तो मैं जा रही हूं—दूर हो रही हूं। और उसने—लता ने—कितना तीखा व्यवहार किया—क्यों ? क्या—उसकी छाया और तब उसकी स्मृति में, उसने अपनी मानसिक चेतना में, कभी प्यार नहीं उंडेला है ? क्या—वह उसके आलिंगन में सिहर कर कभी सिमटी नहीं है ? तब अब क्या हो गया ?....किन्तु उसने....अब जो कुछ किया है—या करता चला जा रहा है—कभी क्षम्य नहीं !

तभी—लता दिनेश के दीवाल फांदने के अनन्तर एक धम्म का-सा स्वर उभरा और लता भी....'आह'....के तीव्र स्वर को बाहर फेंक कर पलंग पर धम्म से पड़ रही।

वह लेटे-लेटे उस चित्र को पुन: दोहरा गई। उस डरावने दृश्य में—रक्त की लालिमा देखकर वह पुन: कांप गई—वह बिलख पड़ी—किन्तु उसकी नि:सहायावस्था—वह क्या करती ? उसकी स्थिति अब कहीं की नहीं रही। किन्तु वह—सब—एक अमिट स्मृति रूप में विरह की निरीहता में—अनुराग की पुस्तक का नया पृष्ठ जो बन गई।

और उसने अपने मांग में भरे रक्त-सिंदूर को उंगली से टटोला और तब उंगली को अनायास ओठों पर लाकर चूम लिया।

× × ×

"तुम चाहो तो मिल लो—बुला लो। इस तरह तो तुम्हारी आगे की जिन्दगी—मौत बनकर रह जावेगी", लता की एक सहेली ने लता को थपथपाते हुए कहा।

सुबह दिन खुलते-खुलते—अपनी आंखों में—मन की दीनता—बहाते हुए लता, अपने एकान्त कमरे में फफक-फफक कर रोती रही। तभी मेहमानों में आई—उसकी एक सहेली उसे देर तक सान्त्वना देती रही।

"नहीं·······अब नहीं, नेत्रों से उमड़ते मोतियों के बीच लता ने तकिये में अपना सर दाबते हुए—बिलख कर कहा।

× × ×

"तुम इतने विश्वासघाती, इतने द्रोही, इतने निर्लज्ज हो—यदि मैं पहले जान पाता·······तो·······," केनाट-प्लेस के एक होटल के एकान्त चेम्बर में सामने बैठे—शान्तिस्वरूप ने दिनेश से कहा।

"आप कैसे जानते—कोई नहीं जान पाता·······मैं स्वयं नहीं जानता था," दिनेश ने पूर्णतः उपेक्षा की मुद्रा में उत्तर दिया।

"बोलो जवाब दो, तुम मेरे मित्र थे·······।"

"जी हां·······," दिनेश उसी प्रकार उदास-भाव से कह गया।

"तो वह तुम्हारी लड़की हुई," शान्तिस्वरूप ने दिनेश की ओर आवेशपूर्ण दृष्टि गड़ाते हुये कहा।

"·············"

"बोलो जवाब दो·······"

"················"

"मैं यों चुप रहने के लिये तुमसे बातें करने नहीं आया हूं," शान्तिस्वरूप ने, स्थिर होकर, अपनी कुर्सी को मेज की ओर घसीटते हुए

कहा। मेज पर तीन प्याले चाय भरे रक्खे थे। उनकी गरमाहट से उठते धुएँ में—अपने हृदय के उफनते धुंए को मिलाता हुआ दिनेश मौन बैठा रहा।

तभी यकायक अपने पलक मूंदे-मूंदे, अपने पतले ओठों को हिलाता हुआ—दिनेश कह गया—"मैं आपकी इस थ्योरी को नहीं मानता।"

"तुम क्यों मानोगे ? तुम तो·······अपनी बहन·········और तुम तो सचमुच उस दीवान के बच्चे के वंशज हो········हो। मैं अब समझ रहा हूँ········।"

"देखिये, शान्ति बाबू, इस प्रकार की बातों या व्यर्थ की बहस से कोई लाभ न होगा। आप जो कुछ कहना चाहते हों, जल्दी से कह डालिये। व्यर्थ मैंने भी कुछ कह-सुन दिया, तो—क्या लाभ होगा," दिनेश ने अपना सर कुर्सी की पीठ पर टिकाते हुए कहा।

"तुम········और मैं, महीनों साथ रहे। साथ बैठे, उठे। भले-बुरे काम किये। और वे सब तुम ने लड़कियों और औरतों से बताये। विश्वास की और 'सोसाइटी' की इस 'थ्योरी' को तो मानते हो।"

"··············", दिनेश चुप रह कर मन ही मन मुस्कराता रहा।

"तुम्हारे एक बीवी है। तुम मेरी लता से भी शादी करना चाहते हो। उसको इतना बदनाम करके, इतनी हिम्मत कर रहे हो। तब प्यार और शादी की इस 'थ्योरी' को मानते हो, न। बोलो, जवाब दो। क्या-क्या मानते हो और क्या-क्या नहीं मानते ? मित्रता की किसी 'थ्योरी' को मानते हो या नहीं ?············।"

"················," दिनेश मौन बना रहा किन्तु कुछ रुक कर तुरन्त बोल उठा—"काश, हमारी शादी हो सकती········?"

"और······तुम, बम्बई, लाहौर, साहदरा, जमुना, चावड़ी, ओडियन, मेट्रो, होटलों और सख्त अफसोस क्या—शर्म है कि घर में भी नरक के कीड़े बने रहते········। क्यों जी ? दूसरे की लड़की इतनी आसान नहीं, बाबू साहब। लोहे के चने हैं········।"

"शान्ति बाबू, आप बात बढ़ाने आये हैं। मैं आपके सम्मान की रक्षा करना चाहता हूँ। ऐसा न हो कुछ ऊट-पटांग मैं भी कहना शुरू कर दूँ। जो चाहते हैं—कहिये। जल्दी बताइये और घर जाइये। व्यर्थ उपदेश देने से क्या बनेगा ?" दिनेश ने अपने पैरों को ज़ोर-ज़ोर से हिलाते हुये—किंचित तीखे स्वर में कहा।

कुछ रुक कर दिनेश पुनः बोला—'आपने कहलाया था—शान्ति-पूर्वक बात होकर कुछ निबट जाय किन्तु·········आपका आवेश मुझे भी···।"

"ठीक है, मैं आवेश में हूँ। मैं उस लड़की का पिता हूँ जो आज भी पवित्र है—किन्तु ···· फिर भी वह अपमान और तिरस्कार में लिपट रही है—बदनामी के बादलों में घिर रही है। यह उसके साथ कितना बड़ा अन्याय है ? क्या, वही सब उचित था जो तुमने किया·········?"

"··········"

"तो····· अब·········?"

"तो, अब कहिये—आप क्या चाहते हैं ?"

"हूँ·······"

"हाँ, मैं कह रहा हूँ—आप कड़वी से कड़वी बात कह डालिये—ज़हर का प्याला दे दीजिये····· मैं पी जाऊँगा," दिनेश ने सर नीचा किये हुये कहा।

"तुम, दूसरे रूप में कहना चाहते हो—तुमने उससे बहुत ऊँचा, बहुत गहरा प्रेम किया है," शान्तिस्वरूप ने व्यंग्यात्मक भाव से कहा।

"मैं यह कहने की स्थिति में अब हूँ कब ?" दिनेश ने अपने दोनों नेत्र, दो उंगलियों से बन्द करते हुये कहा।

"जो कुछ—दिखावे के रूप में कहते हो, जानते हो इसका मतलब क्या है ?"

"············"

"चुप हो—तो सुनो। उसके सुखके साथी बनो। उसका जीवन नष्ट मत होने दो। तुमने अब तक जो कुछ किया है उसका प्रतिफल तुम्हें नहीं उसे भोगना पड़ेगा········।"

दिनेश, यकायक सिसकियां भरकर रो उठा। कुछ देर वहां निस्तब्धता छाई रही। चाय, दिनेश के मन की सी—'कोल्ड-टी' बनकर रह गई। दिनेश और शान्तिस्वरूप के वार्तालाप में उपस्थित उनके मित्र, कौतूहल में उदास मन लिये दिनेश की सिसकियों में अपने विचारों के ताने बुनते रहे। तभी पेन्ट की जेब से 'केलिको' का सफेद रूमाल निकाल कर उसने अपने नेत्र सुखाये। रूमाल से बिखरती सेण्ट की तीखी गन्ध ने शान्तिस्वरूप को उद्वेलित कर दिया। उस क्षण दिनेश को देखकर—मन-ही-मन उनमें आवेश भरता चला जा रहा था। तभी दिनेश धीरे-से उठा और बन्द 'केबिन' का द्वार खोलकर बाहर चला गया। बाहर आकर 'बेसिन' में उसने नाक व गला साफ किया, मुंह धोया और पुन: अपनी कुर्सी पर जा बैठा।

दिनेश—चुप बैठा अपनी दृष्टि को मेज के पाये पर टिकाये रहा। शान्तिस्वरूप क्या कहने वाले हैं—यह सुनने को उसका मन उत्कंठित हो रहा था। उसके सामने—उसी होटल में हुई रंगीनियों के स्थान पर आज मौत की-सी उदासी छाई हुई थी। अनेक 'रोमान्स' का श्रीगणेश वहां से हुआ था किन्तु आज उसके जीवन के यथार्थ 'रोमान्स' का अन्त हो रहा था।

शान्तिस्वरूप—एकटक दिनेश की ओर देखते रहे। तभी मौन भंग करते हुए वे बोले—"तो, तुम अब आगे क्या सोच रहे हो ? क्या करना चाहते हो ?"

"जो लता कहे·······।" कुछ रुक कर—"नहीं········नहीं, जो आप कहें," और उसका गला फिर रुंध गया।

"मैंने उसकी शादी तय कर दी है। एक दो हफ्तों में ही वह हो जावेगी····।"

"हो जावेगी''''नहीं, मैं कहूँ तो—ग्रन्यथा'''' ।" दिनेश ने पूर्ण ग्रावेश में कहा।

"ग्रन्यथा क्या'''' इन बातों में क्या रक्खा है ? इन किन्हीं भ्रमों में रहना भी नहीं—समझे," शान्तिस्वरूप ने उसी तैश में कहा।

"यह न कहिये''''," दिनेश ने मेज पर हाथ पटक कर शान्तिस्वरूप की ग्रोर तीव्र दृष्टि से देखते हुये कहा।

"तब ठीक है''''," कहकर शान्तिस्वरूप उठ खड़े हुये।

दिनेश भी उसी ग्रावेश में उठ खड़ा हुग्रा। सब कुछ, ज्यों का त्यों देख निकट बैठे मित्र महोदय—जिन्होंने ग्रथक प्रयत्न करके वह भेंट व्यवस्थित की थी—धीमे स्वर में बोले—"शान्तिस्वरूप जी ग्राप बैठिये। तुम भी बैठो दिनेश। खड़े क्या हो, बैठो।"

दिनेश बैठ गया। तब वे पुनः बोले—"दिनेश, तुमने मुझ से क्या वादा किया था ?"

"मैं ग्रब भी ग्रपनी बात पर दृढ़ हूँ;" दिनेश ने स्थिरता में कहा।

"तो सुनो, मैं कहता हूँ, यदि तुम प्रेम का दावा करते हो, यदि तुम उसका हित चाहते हो, उसका सुख चाहते हो, उसको बेइज्जती ग्रौर बदनामी से—कम से कम—ग्रागे बचाना चाहते हो—तो''''तुमको वही करना चाहिये जो सब चाहते हैं''''," शान्तिस्वरूप ने बैठते हुए कहा।

"सबों की बात छोड़िये। दुनियाँ में सब क्या चाहते हैं—यह कोई नहीं चाहता। सब क्या चाहते हैं''''वह हो ही नहीं सकता। सब तो ऐसा विचित्र चाहते हैं कि''''किन्तु जब वही बात एक की हो रहती है—तो उन्हीं सब में का एक''''फिर वह नहीं चाहता जो सब के साथ मिलकर चाहता था''''सबमें उसका कोई व्यक्तिगत सिद्धान्त नहीं होता—एक में वही व्यक्तिगत चाहना जो हो जाती है—ग्रौर व्यक्ति ग्रपनी चाहना यों नहीं छोड़ता।"

"चलो''''ऐसे सिद्धान्त मुझे भी बहुत ग्राते हैं''''किन्तु यों सही'''' जो मैं चाहता हूँ''''जो''''लता चाहती है''''।"

"लता"·········की बात जाने दीजिये। वह अब जो कुछ चाह रही है—उसमें परिस्थितियों का रुदन और दबन की चीख है·········किन्तु हाँ···आप बताइये—आप क्या चाहते हैं?" कह कर उसने भर्राये गले से पुकारा·········"बैरा·····।"

होटल के बैरा ने तत्परता से कमरे में प्रवेश किया।

बैरा को सम्बोधित करते हुये दिनेश बोला—"लाओ·········।"

बैरा चला गया। शान्तिस्वरूप मौन·········दिनेश की ओर देखते रहे। मिश्र महोदय·········थोड़ी-थोड़ी देर में "फिल्म फेयर" पढ़ते और बन्द करके एक बार शान्तिस्वरूप व दिनेश को देख लेते और पुनः 'फिल्म फेयर' के 'पेयर' देखने लगते। कान उनके गम्भीरतापूर्वक वार्तालाप में लगे हुए थे। बातचीत में वातावरण—जिस क्षण—तीव्र हो जाता तुरन्त रेस के घोड़े की तरह कान फरफराकर वे 'जॉकी' की दृष्टि की भाँति—दिनेश व शान्तिस्वरूप की हार-जीत का निर्णय जानने के लिये आँखों को तीखा बना लेते।

कमरे में अनेक बार वार्तालाप की गरमाहट के बीच उबाल में छींटे पड़ जाने की तरह वातावरण में निस्तब्धता छा जाती। उसी भाँति उस समय भी कमरे के चारों कोने सुनसान पड़े थे—तभी दिनेश ने अपनी अधजली सिगरेट ऐश-ट्रे में दाबकर—मेज पर रक्खे 'स्टेट-एक्सप्रेस' के डब्बे से नई सिगरटें निकालकर पहले स्वयं सुलगाई तब बड़ी बेरुखाई से शान्तिस्वरूप की ओर बढ़ाते हुए वह बोला—"हाँ,····तो जल्दी बोलिये····आप क्या चाहते हैं?"

अनिच्छा से दिनेश की सिगरेट हाथ में लेते हुये शान्तिस्वरूप ने कहा—"मैं चाहता हूँ कि तुम भी यही चाहो कि लता की····शादी····जहाँ हो रही है····शान्ति व आनन्द से हो····।"

"बस, तो हो····मैं तैयार हूँ। मैं वचन देता हूँ कि····नहीं, किन्तु····एक शर्त पर·····," आंख में लगे सिगरेट के जलते धुयें को रूमाल से पोंछते हुये दिनेश ने कहा।

"शर्त ''''शर्त कुछ नहीं''''''", शान्तिस्वरूप ने सवेग कहा।

"आपको माननी ही होगी", दिनेश ने शान्तिस्वरूप की ओर दैन्य दृष्टि से देखकर विनय और अनुरोधपूर्वक कहा।

"नहीं''''''शर्त, मैं कोई भी मानने को तैयार नहीं....", दिनेश की शर्त में किसी भावी आशंका की भावना का ध्यान करते हुये शान्ति-स्वरूप ने स्थिर भाव से कहा।

"नहीं मानियेगा''''''अच्छा चलिये, मैं तैयार हूँ। हालांकि''''''," कहते-कहते दिनेश रुक गया।

"मैं समझ रहा हूँ—किन्तु तुम्हारा अब लता से मिलना ठीक नहीं है। मैं कभी नहीं चाहूँगा।" शान्तिस्वरूप ने पुनः स्पष्ट होते हुए कह डाला।

"मैं जानता हूँ'''भाई जी''''''आप क्या 'वह' भी नहीं चाहती। आप लोगों ने उसे इतना दबाया और सताया है। कहिये ठीक है। किन्तु मैं सचमुच एक बार''''''बस एक बार उससे बात करके''''''किन्हीं भ्रमपूर्ण बातों को साफ करना चाहता हूँ," दिनेश ने भरे गले से कहा।

"अब बातों को दबा रहने दो। किन्तु वह अब सम्भव नहीं है। उचित नहीं है।"

"तो ठीक है। लाइये हाथ मिलाइये", कहते हुए उसने अपना हाथ शान्तिस्वरूप की ओर बढ़ा दिया।

शान्तिस्वरूप कुर्सी से उठ खड़े हुये और जैसे एक चैन पाकर हँसते हुए उन्होंने दिनेश का हाथ थाम लिया।

तभी दिनेश बोला—"बैठिये तो''''''कुछ पी लीजिये। वह ला रहा है।"

"नहीं''''''मैंने छोड़ दी है।"

"वाह''''''वह पियक्कड़ ही क्या जो तोबा कर दे''''''", दिनेश ने शान्तिस्वरूप के कन्धों पर दोनों हाथ रखकर उन्हें कुर्सी पर बैठाते हुए कहा।

"नहीं मैं पिऊँगा नहीं," कहते हुए शान्तिस्वरूप ने मित्र महोदय की ओर देखते हुए कहा जो ललचाई दृष्टि से—द्वार की ओर देखते हुये —बैरा के आने की बाट जोह रहे थे।

"आप निश्चिन्त रहिये—मैंने जो कह दिया है····उसपर मैं दृढ़ रहूँगा। मैं खड़े होकर लता की शादी कराऊँगा····"

और टप-टप करके वेग से आँसुओं की बरसात—दिनेश की आँखों से बह चली।

२४

"कुछ भी कहो, शान्तिस्वरूप, इस समय तो दिनेश ने विशेषता दिखलाई है।"

"मैं मानता हूं। मनुष्य में सौ अच्छाइयां हों और एक दुर्गुण ऐसा हो जो चर्चा का कारण हो तो लोग कहते ही हैं.........और सौ दोष हो, एक बात भी महानता की हो तो वह समान प्रशंसा का अधिकार होता ही है," शान्तिस्वरूप ने अपने मित्र को प्रोत्साहित करते हुये कहा।

"यह सही है। और उसमें भी क्या है? नवजवान है। लाड़ में पला है। रईस घराना रहा है। रईसत और विलास जब विरासत में मिली हो तो बच्चे मौज-पानी करते ही हैं.........।"

"यहां मैं तुम्हारी बात नहीं मानता। एक घर डायन भी छोड़ देती है।"

"और अपनी कहो।"

"इसके माने यह नहीं हुये कि हम अपने बच्चों को भी वैसा ही बनने दें। उद्दण्डता की रोक-थाम प्रत्येक करता है।"

"मानता हूं और एक बात तुम्हें भी माननी होगी कि इस बीच दिनेश में परिवर्तन हुये।"

"मैं नहीं मानता। रोज नये किस्से सुनने में आते रहे।"

"यह कोई बात नहीं है। यह न भी मानो तो एक बात माननी ही होगी—यह 'सेक्स' किसी के वश का नहीं। मैं कहता हूं—कहीं कुछ नहीं चल पाता। किसी से कुछ हो नहीं पाता।"

"ग़लत बिलकुल ग़लत। जिनकी वैसी मान्यतायें हैं—जो नीति-रीति को जीवन का यथार्थ मानते हैं— वे बचते ही हैं। बचाते ही हैं। वे मौका बचाते हैं—यह बड़ी बात है।"

"हो सकता है। बचता भी है और नहीं भी बचता। किन्तु कभी-कभी तो ऐसे भयानक प्रसंग सामने आ जाते हैं, शान्तिस्वरूप कि, बस........लगता है कि या तो सब धोखा—ढकोसला है या फिर ऐसा है कि सब ओर एक बड़े 'आपरेशन' की जरूरत है। सुनो उस बाप को क्या कहोगे। उसको क्या कहोगे जो निकट की खाट पर सोई हुई जवान लड़की के वक्ष पर राक्षसी हाथ चला देता है। क्या कहोगे—जब उसके जगने पर या मां के जाग जाने पर वह कहता है—'ऐसा कुछ नहीं। तुमको भ्रम हो गया होगा।"

"मैं मानता हूं। कुछ असम्भव नहीं।—अरे—इस दीवान को ही देख लो न।"

"शान्तिस्वरूप, ऐसे दीवान—भरे पड़े हैं इस दम्भी समाज में। कुत्सित से कुत्सित, क्या कर्म नहीं होते इस पापमय सामाजिक जीवन में......।"

"जो भी हो। बचाव सम्भव है और केवल अपने से ही।"

"यह मैं मानता हूं। और राखी बंधवाने वाले भाइयों की भी कमी नहीं। इस जगह मैं यह जरूर कहूंगा कि दिनेश इस माने में बहुतों से अच्छा है। जो कुछ है—कम से कम डंके की चोट पर।"

"नीच कहीं के। यह भी सभ्यता या मनुष्यता है। तो समाज, दीवान जी के कृत्यों को भी मान ले क्यों श्रीमान्? वह भी तो डंके की चोट पर है। यह नहीं। यह भ्रम है। कलुष-कालिमा, वह कालिमा ही रहेगी। मेरे अपने दोष, दोष ही रहेंगे। मैं मानूं या न मानूं। और अपनी कमजोरी माननी चाहिये। कमजोरियां होती हैं। इससे कोई इंकार नहीं कर सकता। किसमें नहीं। मुझमें नहीं कि आपमें नहीं। किन्तु कमजोरी—जहां बढ़कर अनाचार हो जाय, कलुष उस गहराई

पर पहुंचता दिखे कि सहन की सीमायें लांघ जाय तो""""तो सामाजिक और वैयक्तिक अंकुश व्यवहार में लाने ही चाहिये।"

"चलो छोड़ो, यह तो एक लम्बा झंझट है। कम से कम अब निर्भय होकर लता की शादी ठाठ से कर डालो तो एक बड़े कार्य से मुक्ति मिले। इधर तुम्हारा स्वास्थ्य भी दिन-प्रति-दिन गिरता जा रहा है, कुछ उसकी भी चिन्ता करो," कहते हुये शान्तिस्वरूप के मित्र तारकनाथ ने विदा ली।

शान्तिस्वरूप—देर तक, तारकनाथ से हुये वार्तालाप में उलझे—एकान्त में बैठकर अपने वैयक्तिक जीवन पर विचार करते रहे। वे सोचते रहे—उन प्रसंगों पर, सचमुच जहाँ दोष; वे चाहकर भी नहीं मिटा पाते—विवश होकर सभी उस क्षण, वैसे ही असहाय से हो उठते हैं और तभी कुरीति अथवा अनीति—जन्मती है, पनपती है।

और वे सोचते चले गये—क्या सचमुच यह भी सम्भव हो सकता है—तारकनाथ कहता था—उसने कहीं जाना ही होगा—एक पिता, ""तो यह सब है क्या? मनोविज्ञान की यह कौन-सी प्रकृति है""हृदय और मस्तिष्क की वह कौन-सी विकृति है""काम अथवा वासना की वह कैसी-सी लिप्सा अथवा बुभुक्षा है जहाँ और जब मानव की राक्षसी-वृत्ति जागती है। वह अवश्य जागती है—यह सही है। इस दानवी मानव से कहाँ क्या असम्भव है? तो क्या हो? कोई उपाय? नीति-न्याय में कहीं तो इसका कोई उपाय नहीं। विरोध में एक अव्यवहार्य कसक-सी होकर रह जाती है—पर होता क्या है? किन्तु होना चाहिये। ऐसे प्रसंग प्रकाश में लाकर—सम्बन्धित व्यक्ति पर ऐसा व्यवहारिक तिरस्कार और अपमान लादना ही चाहिये कि वह अथवा उसके से अन्य कुचले जा सकें—उनकी कुत्सित वृत्तियों, भावनाओं और मनोविकारों को पीस ही डालना चाहिये।

विचार-शृङ्खला में वे ऐसे उलझे कि उनका हृद्-चाप बढ़ गया।

तुरन्त ही डाक्टर इत्यादि दौड़े और घंटे दो घंटे के उपचार के अनन्तर वे व्यवस्थित हो सके।

शान्तिस्वरूप और दिनेश की भेंट की चर्चा ने वातावरण में एक नई हिलोर उत्पन्न की।

लता ने भी वह सब सुना। एक ओर जिस प्रकार वह आत्म-तुष्टि में अपने कौमार्य की पवित्रता पर गर्वित थी, दूसरी ओर दिनेश के सब आचरणों के पश्चात् भी—अन्त की इस महानता पर नतमस्तक होकर—मुग्ध व त्रस्त मन के मिले-जुले से आवरण में—उसकी सराहना कर रही थी।

उसके मन पर पहाड़ से भी घना, उससे भी भारी, उससे भी असीम भरापन घिर रहा था। इस अनुदार वातावरण व कष्ट से दबी—कोमल-सी लता पिसकर रह गई। तन से भी वह अस्वस्थ हो रही थी। कभी-कभी उसे अचेत हो जाता। उस सब के अनन्तर भी वह आगामी को दृढ़ता से आह्वान करने के लिये—स्थिर थी।

और अनायास—दो दिन पश्चात् सूचना मिली कि दिनेश की पत्नी की हृद्गति रुक जाने से, एकाएक, मृत्यु हो गई।

इस अप्रत्याशित समाचार ने वातावरण में कौतूहल के साथ-साथ आशंका भी उत्पन्न की।

किसी ने कहा—"अच्छा हुआ। उसे अपने दुःखमय-जीवन से मुक्ति मिली या दे दी गई·····।"

और कहने वालों का क्या ? उनका तो काम ही कहना जो ठहरा। वे जो सोच जाँय, जो कह जायें। हाँ, दिनेश की पत्नी की मृत्यु हुई जो एक सत्य घटना थी; शेष सम्भावनाओं का मिथ्या आरोप।

किन्तु सर्वाधिक विषाद चिन्ता व आशंका—शान्तिस्वरूप के चारों ओर थी। घरवालों व मित्रों की बातों के साथ-साथ स्वयं शान्तिस्वरूप का अन्तर्मन हिल रहा था।

एक मित्र ने जब आकर कहा—"तुम्हारे यहाँ के विवाह के कुछ पूर्व ही इस संदिग्ध घटना का होना चिन्तनीय है।"

दूसरे सज्जन घुमा फिरा कर कह गये—"लता पर गहनतम प्रभाव डालने के लिये ही यह सब हुआ है।"

किन्तु शान्तिस्वरूप ने—अन्तर में अस्थिर होते हुये भी पूर्णतः स्थिर भाव से, पूरे विश्वास सहित उन सब शंकाओं का उत्तर देते हुये कह डाला—"क्या जीवन या मृत्यु भी किसी के हाथ की या किसी के अधिकार की वस्तु है ?"

अपने तईं प्राप्त दिनेश के वचन पर शान्तिस्वरूप को विश्वास था और वे दृढ़ थे कि आगे कुछ भी अनहोना होना सम्भव नहीं।

वे यह भी सोचते—यह सब व्यर्थ की बकवास है। क्या यों अनायास किसी की मृत्यु सम्भव नहीं ? लोगों को तो बात बनाने के लिये कुछ चाहिये ''' ।"

× × ×

और जब लता ने सुना तो वह सिहर उठी। ओफ ! बेचारी की मृत्यु हो गई। कितनी पिसती रही थी वह। वह भी नारी थी। उसी की भांति उसके भी चाह भरा प्यार का मन था। किन्तु जो उसे न चाह सका उसके लिये वह अस्वीकार्य ही जो था।

किन्तु यह कैसी-सी चर्चा है, सर्वत्र। जो हो, उसे विश्वास है। जो प्यार में इतना उदार है—उससे ऐसा कुछ सम्भव नहीं। वह सब जो व्यर्थ का आरोप है, उसकी चिन्ता उन्हें भी नहीं करनी चाहिये। किन्तु—वह यह कहे कैसे कि तुम—इससे खिन्न न होओ। कुछ भी —मेरे मन में तुम्हारे प्रति सदैव सम्मान है, रहेगा।

इन सब विश्वासों के साथ भी लता के मन से अमिता की मृत्यु की विभीषिका कभी दूर न हो पाती थी। उस कचोटन में जो तिरस्कार उभरता तो वह स्वयं तिलमिला कर रह जाती।

२५

इधर कई दिनों से शान्तिस्वरूप की अवस्था चिन्तनीय हो गई थी। अनायास, उन्हें दिन में अनेक वार हृदय-पीड़ा का कष्ट होने लगा। निरन्तर उपचार चलता रहा और किसी प्रकार उनका स्वास्थ्य कुछ सुधरा।

इस सब में ही—लता के विवाह की तैयारी चलती रही।

और लता की शादी का दिन भी आ पहुंचा। शान्तिस्वरूप ने धन एवं वैभव की सीमाओं को मिला कर विवाह का भव्य आयोजन किया।

स्वागत—सत्कार और देन-लेन में शान्तिस्वरूप ने मुक्त-हस्त होकर कार्य किया। स्वरूपरानी ने भी बड़े उत्साह एवं संलग्नता पूर्वक विवाह कार्यों को सफल बनाया।

और इस सब व्यस्तता में—नैराश्य की चांदनी लपेटे—लता संध्या से ही—उदास मन प्राण लिये—एकान्त में पड़ी रही। उसके जाने—वे सारी तैयारियां—वह सारी चहल-पहल—उसके नहीं—उसके मृत—शरीर के सम्मान में थीं। उसका चेतन—शरीर—उसका वास्तविक स्वरूप—तो मर चुका था—मिट चुका था। उसके विचार में तो जो कुछ हो रहा था —वह सामाजिक जीवन की वैसी सी मनचाही खाना-पूरी थी जिसका सम्बन्ध भौतिक रूप में उसके निर्जीव प्राण के शरीर का था। उसका सम्बन्ध उसके वास्तविक मन से था ही कब ?

प्रणय विलीन हो रहा है—विरह उभर रहा है—निराशा की भावी आशायें उसके सामने बिखर रही हैं—केवल यही सब कुछ नहीं था जिसका क्षोभ—वह मन में दाबे पड़ी थी। उसे लग रहा था जैसे—उसके प्रणय-जीवन की सारी घटना ही एक प्रकार से—उदासी की घटाओं में घिरी रही है। मानसिक उद्वेलन में जब कभी और जहां कहीं उसने अतिरेक पाया था—वहां भी मूलरूप में परिस्थितियों व वातावरण की करोंचन सदैव ही साथ रही थी। इस सब में—अमिता की कहानी, किशोरी-काण्ड एवं दिनेश की पत्नी की करुण-कथा आदि लता के मनको बहुत समय से निरन्तर करोंचती रही थीं और उस क्षण भी भावी—पति—कल्पना के साथ-साथ प्रेम की भूतपूर्व काल्पनिक चित्रावली—अनुराग की जटिलता के सप्तरंगी रेखाचित्रों सहित—एक ऐसी तड़पन उत्पन्न कर रही थी कि वह कराह उठती थी।

उसी सबमें—घर का कोई आता। उसको देखकर, प्रयत्न करके वह मुस्करा देती और वह उसे उठा ले जाता। तब कुछ वैवाहिक—संस्कार सम्पन्न करके वह पुनः अपनी उस निर्जन शय्या पर आ पड़ती।

वहां भी उसके मन में एक बड़ा सन्तोष था। उस विरह-वेदना का प्रिय सा सन्तोष, अपनी शुभ्रता का गर्वीला सा सन्तोष, पिता जी को सन्तोष देने का सन्तोष, समाज की मान्यताओं को मान लेने का सन्तोष, अनचाहे भविष्य को सरलता और सन्तोष से अपना लेनें का सन्तोष—अतः वह उस पीड़ा में भी बड़ी सुखी थी।

किन्तु उस बाजों की झनझनाहट में—शहनाई की तानों में—जब दिनेश उसके नेत्रों में नाच जाता तो वह मौन-मुखर भावना में—सांस रोक कर—कल्पना की लहरों को देख जाती। हिलती-डुलती इसलिये नहीं की स्मृति-पटल पर लहरों की भांति वह सुखद-मुद्रा कहीं विलीन न हो जावे।

इसी प्रकार रेशम-सी—रेशम की लालिमा में सिमटी लता—संगीत की ललित-स्वर-लहरी की कराह सुनती रही।

बारात द्वार पर आगई। दूल्हा रूप में उसका पति—जयमाल पहनकर—पुलकित-सा कमख्वाब के कालीन पर आ बैठा।

दूल्हे की फौज के सिपाहियों का बैण्ड बजता रहा। वे लता को पकड़ने आये थे, इस पर भी लता के पिता—उनका इतना सत्कार कर रहे थे, यही सब सोचकर लता हैरान थी। संस्कारों की वैसी व्यवस्था में उसे जैसे बड़ा विचित्र-सा लग रहा था—एक कौतुक।

क्षीण-काया लिये—अस्वस्थता में भी—शान्तिस्वरूप प्रसन्नता-पूर्वक सब कार्यों में संलग्न रहे।

और—दिनेश भी आया। विषाद की उस झिलमिलाती शाम को, वेदना भरी उस काली रात को, मन की पपिहरी की उस कर्कश झंकार की उदासी को समेट कर—दिनेश वहां पहुंचा।

बैंड—बाजों की चीत्कार को चीरता हुआ जब दिनेश वहां पहुंचा—तो वातावरण में एक लहर आई—एक कंपन उभरा। वह बिना कहीं रुके सीधे शान्तिस्वरूप से मिलने को—बावला-सा उतावला-सा, वहां जा पहुंचा।

और आज—दिनेश के लम्बे, इठलाते काले केशों के स्थान पर—प्रकट रूप में मन की-सी घुटन थी। पत्नी के अन्तिम संस्कार का—वह चिन्ह बीते कथांश को स्पष्ट कर रहा था। उसने तभी सोचा था कि—यदि ऐसा हुआ भी तो किसी विशेषता को लेकर ही वह—लता के विवाह में सम्मिलित होगा। वैसा हुआ भी।

और मन की घुटन से श्रेयस्कर—वह प्रतिपल मृत्यु को मान रहा था, यही उसकी पत्नी मान बैठी थी और यही शान्तिस्वरूप ने मान लिया था।

बाहर से संगीत की ध्वनियां आ रही थी। बैंड बज रहा था। शहनाई खिलखिला रही थी और दिनेश के मन की धधकती आशा—सांय-सांय करके—उसके अन्तर्मन में विलीनता के स्वर उभार रही थीं।

दिनेश उठा और चल दिया। दैवात् सामने ही, लता लजीली-सी, सहमी-सी, लाल रेशम में जरी की जगमगाहट समेट कर कमरे से बाहर निकल रही थी। उसकी सखियां, उसे—लग्न-मंडप की ओर लिये जा रही थीं।

और वह अन्तिम दृष्टिपात—लता ने देखा। दिनेश ने देखा। नेत्रों की तिलमिलाहट ने बरबस दोनो को स्थिर कर दिया। लता वहीं मुंह ढांप कर, मन मसोस कर जहां की तहां बैठ गई।

दिनेश जड़वत खड़ा का खड़ा रह गया।

एक मर्मान्तिक उदासी समेट कर वह किसी प्रकार आगे पग बढ़ा पाया। समय अनुपयुक्त था। परिस्थितियां विवश कर रही थीं। वहां रुकना अनधिकृत था। सर्वाधिक शान्तिस्वरूप को दिये वचन का निर्वाह।

और ज्यों ही उसने एक पग छोड़ कर दूसरा आगे बढ़ाया—सामने अमिता ने उसका मार्ग रोक लिया।

अमिता को सामने देखकर—दिनेश जैसे मूर्छित होकर वहीं भूमि पर गिरने लगा। किसी प्रकार—साथ के एक मित्र ने उसे संभाला। उसका साहस उस ओर देखने का भी नहीं हो रहा था।

अमिता या अमिता का भूत। किन्तु सचमुच वह अमिता थी। पीड़ित-सी, पीली-सी, सफेद रेशम की उदास साड़ी में वह सामने खड़ी थी। वह एकटक दिनेश को देख रही थी। दिनेश की अव्यवस्था में वह मुस्कराहट की चीख उभार रही थी।

अपनी गर्दन को किंचित झुका कर—दृष्टि को दिनेश के उच्छृंखल व्यक्तित्त्व पर टिकाते हुये—ओठों से वह बुदबुदाना चाहती थी—केवल एक शब्द—"कहिये''''?"

और दिनेश—न स्वागत न तिरस्कार—जैसे उसकी वाणी थम गई। वह कुछ बोल ही न सका।

और—"जाओ—तुम पर दया करती हूं। तुमको छोड़ती हूं। क्षमा करती हूं। मेरा क्या ? जो होना था वह हुआ। आगे कुछ चाहो तो सीख लो," इतना सब बिना कहे ही अमिता—अन्तर्मन में वह सब कुछ कह कर कर्कश दृष्टि से दिनेश को देखते हुये—चुपचाप लौट पड़ी।

अमिता—जहां लता बैठी थी, चली गई।

दिनेश किसी प्रकार—धीमे-धीमे पगों को बढ़ाता हुआ मृत्यु सदृश भय से भाग कर उस स्थान से निकल आया।

"अमिता""," कह कर लता उससे लिपट गई। "तुम—तुमही हो। जीवित हो। कहां रहीं ? कहते-कहते प्रश्नों की झड़ी-सी, लता ने छेड़ दी।

"हां, हां—मैं, मैं अमिता। अमिता का भूत नहीं। तबसे, कलकत्ते थी। वहीं तुम्हारी बुआ जी, दिव्या—मिलीं। उन्हीं से ज्ञात हुआ—आज की तुम्हारी शादी है। 'प्लेन' से आई हूं। आते ही—तुम्हारे उन दिनेश महाशय को ढूंढ़ती रही। अभी—यहीं मिले हैं। वह क्या जा रहे हैं। बस, दीनता देख कर छोड़ दिया है, मैंने, लता। तो तुम, तुम भी चल दीं। अच्छा हुआ। यही उपयुक्त था। वह क्या है ? कितना मेरे जीवन ने जान पाया है, किसी ने नहीं जाना है। न कोई जान ही पावेगा।"

और लता एकटक अमिता की ओर निहारती रही। अमिता की क्षीण काया में भी—इधर जो ओज प्रकट हो रहा था—लता ने पहले कभी नहीं देख पाया था।

तुम्हारी शादी है—बधाई ! बस, इस अवसर पर तुमसे मिलने ही आई थी। रुकूंगी नहीं। जाना है। हास्पिटल की ड्यूटी, मुझे एक पल को नहीं छोड़ती। अभी एक घंटे बाद 'प्लेन' जाने को है। उसी से चली जाऊंगी। सुखी रहना, लता। बस, मन प्राण से—दाम्पत्य-जीवन में अपने को पिरो लेना। वही शाश्वत है। भूल जाना, सब कुछ—जो

बीत गया, मेरी तरह। मैं चली, कहते-कहते अश्रुविगलित नेत्रों को सुखाकर अमिता चली गई।

लता—कौतूहल में सहम कर रह गई।

× × ×

अनुराग की स्मृतियां—कभी मिटती नहीं। सब समाप्त करके भी लता का मन—कराह कर—कभी—कह उठता है—"वे इतने बुरे नहीं थे। संभल सकते थे। मैं संभाल सकती थी। आज की उनकी—उद्दण्ड लोलुपता, वीभत्स-क्रिया-कलाप मिट सकते थे।"

दिनेश—अनेक बार सोचता—"काश लता, मिल ही जाती तो—एकाग्र-जीवन की सत्यता कहीं जाती नहीं।'.

और अब—"क्यों और किसके लिये संभलूं—सात्विक बनूं। जिस समाज ने—मुझे नहीं माना उसके कलुष को उभारना मैं क्यों छोड़ूं?"

लता और दिनेश—सवेरा दोनों को मिला—किन्तु अंधेरा!

—समाप्त—